तत्वज्ञान

विवेक भूषण दर्शनाचार्य

महर्षि गौतम प्रणीत
न्यायदर्शन की पँचावयव पद्धति

प्रकाशन तिथि – जून 2002

प्रकाशक

दर्शन योग महाविद्यालय

आर्य वन, रोजड़ (गुजरात)

मुख्य वितरक

आर्य रणसिंह यादव
द्वारा / डॉ. सद्गुणा आर्या
'सम्यक्'
पत्रालय-गांधी ग्राम, जूनागढ़ (गुजरात) ३६२००१

प्रकाशन तिथि : जून २००२, ज्येष्ठ २०५९' विक्रमी
चतुर्थ संस्करण, सृष्टि संवत १,९६,०८,५३,१०३

❖ प्राप्ति स्थान ❖

१. **आर्य समाज मन्दिर**, रायपुर दरवाजा बाहर, अहमदाबाद (गुजरात) ३८००२२.
२. **गोविन्दराम हासानन्द**, ४४०८, नई सड़क, दिल्ली-६.
३. **मधुर प्रकाशन**, आर्य समाज, बाजार सीताराम, दिल्ली-६.
४. **आर्य प्रकाशन**, ८१४, कुण्डेनवालान, अजमेरी गेट, दिल्ली-६.
५. **चौखम्बा ओरीयेन्टलिया**, ९, यु.बी. बग्लो रोड, पोस्ट बोक्ष नं. २२०६, दिल्ली-७.
६. **आर्य समाज गांधीधाम**, झंडा चौक, गांधीधाम, कच्छ, गुजरात-३७०२०१.
७. **आर्य समाज मन्दिर**, टंकारा, जि. राजकोट (गुजरात).
८. **आर्य समाज मन्दिर**, महर्षि दयानन्द मार्ग, पोरबन्दर, गुजरात.
९. **आर्य समाज मन्दिर**, महर्षि दयानन्द मार्ग, हाथी खाना, राजकोट, गुजरात.
१०. **आर्य समाज मन्दिर**, दत्त अपार्टमेन्ट, मकरपुरा रोड, वडोदरा, गुजरात.
११. **आर्य समाज मन्दिर**, नवाडेरा, भरूच-३९२००१.
१२. **आर्य समाज मन्दिर**, लखधीरवास, मोरबी, जि. राजकोट (गुजरात).
१३. **आर्य समाज मन्दिर**, दातार रोड, जूनागढ़ (गुजरात) ३६२ ००१.
१४. **आर्य समाज मन्दिर**, स्टेशन रोड, आणंद, जि. खेडा (गुजरात).
१५. **श्री अरविन्द राणा**, ७९१/डी/३, पंचशील मार्ग, सैक्टर-२१, गांधीनगर.

२९९९९९

दर्शन योग महाविद्यालय
आर्य वन, रोजड़ पो. सागपुर, जि. साबरकांठा, (गुजरात) ३८३३०७
दूरभाष : (०२७७४) ७७२१७, (०२७७०) ८७४१७, ८७६१७
E-mail : darshanyog@icenet.net

लागत व्यय : ८/- रुपये

मुद्रक : **आकृति प्रिन्टर्स**, अहमदाबाद. फोन : २७६०४६७

पुस्तक के सम्बन्ध में

आज की भोगवादी पाश्चात्य सभ्यता की अन्ध-परम्परा में पल रही नई पीढ़ी, ईश्वर-जीव-प्रकृति-पुनर्जन्म-धर्म-अधर्म-कर्म-फल आदि सूक्ष्म अदृश्य (अप्रत्यक्ष) विषयों को इतने मात्र से स्वीकारने को तैयार नहीं है कि "ये बातें वेदादि धर्म शास्त्रों में लिखी हैं या 'हम परम्परा से इन्हें मानते आये हैं अतः आप भी मानो ।" क्योंकि जो वैदिक शास्त्रों के सूक्ष्म सिद्धान्तों से अनभिज्ञ हैं और अनेक मत, पंथ, सम्प्रदायों की संकुचित सीमाओं में बँधे हुवे हैं, ईश्वर, धर्म, पूजा, उपासना, क्रियाकाण्डों के अवैज्ञानिक, विकृत, अयथार्थ स्वरूप को अपनाये हुवे हैं, ऐसे असन्तुष्ट अभिभावक कैसे अपनी सन्तति को, इन दार्शनिक विषयों में सन्तुष्ट करा सकते हैं या उनमें आस्था उत्पन्न कर सकते हैं ? कदापि नहीं । परिणाम यह निकल रहा है कि नई पीढी में नास्तिकता का प्रचलन दिन दूनी रात चौगुनी गति से बढ़ रहा है, जो परिवार, समाज, राष्ट्र की सभी समस्याओं का मूल है । इसका उपाय होना ही चाहिए ।

इसी उद्देश्य को सम्मुख रखकर ब्र. विवेकभूषण जी दर्शनाचार्य ने यह पुस्तिका लिखी है, जो स्वयं एक ऊहा, तर्क से युक्त प्रतिभासम्पन्न युवा दार्शनिक विद्वान हैं और पिछले १०-१२ वर्षों से दर्शन योग महाविद्यालय में दर्शन आदि शास्त्रों का अध्यापन कर रहे हैं । इन्होंने देश भर के विभिन्न प्रान्तों के बीसियों धार्मिक, पठित, वैराग्यवान, गृहत्यागी नैष्ठिक युवकों को दर्शनों की गूढ़ विद्या को पढ़ाकर उन्हें दार्शनिक बनाया है । प्रस्तुत पुस्तिका में न केवल तीन अनादि तत्त्वों का विवेचन किया गया है, अपितु लेखक ने अन्य अनेक अवान्तर दार्शनिक विषयों को भी प्रमाण, युक्ति, तर्क से प्रस्तुत किया है, जो आध्यात्मिक दृष्टि से अति महत्त्व पूर्ण हैं ।

मुझे विश्वास है कि जिस शैली से विषय प्रस्तुत किये गये हैं, उससे न केवल नामधारी, अधूरे, संशयित, भ्रान्त, आस्तिकों का आध्यात्मिक ज्ञान परिपक्व होगा; अपितु नास्तिक व ईश्वर के प्रति उपेक्षाभाव रखनेवाले व्यक्तियों के मन में भी आस्तिकता व धार्मिकता के अंकुर फूटेंगे । वे भी अध्यात्म की ओर अग्रसर होंगे । इसी आशा के साथ -

ज्ञानेश्वरार्यः

दर्शन योग महाविद्यालय

❖ अनुक्रमणिका ❖

।। ओ३म् ।।

प्राक्कथन

"मचा कोहराम है, चारों दिशाओं में ।
नहीं है शान्ति कुछ, अब हवाओं में ।।"

आज चारों ओर मनुष्य समाज दुःखों से पीड़ित है। यूँ तो दुःखों के दो मुख्य कारण हैं। **पहला** - बाह्य कारण। जैसे - भूख, प्यास, गर्मी-ठण्डी, चोट लगने आदि बाह्य कारणों से भी दुःख होते हैं। इन दुःखों को दूर करने के लिये भोजन, वस्त्र, ओषधि आदि वस्तुओं का आश्रय लिया जाता है। **दूसरा**-आन्तरिक कारण। जैसे - भोजन, वस्त्र आदि के द्वारा बाह्य दुःखों की निवृत्ति हो जाने पर भी मिथ्याज्ञान=(अविद्या) के कारण व्यक्ति मन से दुःखी और राग-द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, अभिमान आदि से ग्रस्त रहता है। परिणाम स्वरूप भोजन, वस्त्र, मकान, यान आदि सुविधाओं से युक्त होने पर भी व्यक्ति अशान्त, अतृप्त, चंचल, भोगी-विलासी और दुःखी रहता है।

आज का मनुष्य समाज बाह्य दुःखों की निवृत्ति और भौतिक=(प्राकृतिक) सुखों की प्राप्ति के लिये तो दिन-रात प्रयत्नशील है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रतिदिन भौतिक विज्ञान आदि के माध्यम से नये-नये आविष्कार किये जाते हैं। परन्तु अनेक भौतिक सुविधाओं के उपलब्ध हो जाने पर भी आज का व्यक्ति अपने मिथ्याज्ञान के कारण स्वयं दुःखी है और दूसरों को भी दुःख दे रहा है। चारों ओर अन्याय, अत्याचार, स्वार्थ, नास्तिकता आदि का वातावरण बना हुआ है। अपराध करते समय प्रायः लोगों को कुछ भय ही नहीं लगता, कि "कोई हमारे अपराध को जान लेगा। हमें इसका दण्ड भी भोगना पड़ेगा।" हमारी दृष्टि में इसका कारण व्यक्ति का मिथ्याज्ञान ही है। आज का व्यक्ति केवल संसार = (MATTER) के सम्बन्ध में तो स्कूल, कॉलेज आदि में पढ़कर कुछ जान गया है। परन्तु **ईश्वर** और **आत्मा** के सम्बन्ध में व्यक्ति का ज्ञान या तो शून्य सा है, या मिथ्याज्ञान है। इसी कारण से आज चारों ओर अशान्ति का साम्राज्य फैला हुआ है। ऐसी स्थिति में इस समस्या का समाधान भी खोजना चाहिये। इस समस्या का समाधान है - ईश्वर और आत्मा के सम्बन्ध में हमें 'तत्त्वज्ञान' प्राप्त करना होगा। उस तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जायेगी। और जब व्यक्ति का मिथ्याज्ञान हट जायेगा, तो उसके सब अपराध, अत्याचार, अन्याय आदि दूर हो जायेंगे। ये सब बुरे काम जब दूर होंगे, और उनके स्थान पर सब अच्छे काम=(न्याय, सेवा, दया, दान आदि) जब आरम्भ हो जायेंगे; तभी मानव-समाज को सच्ची शान्ति और सुख मिलेगा। तो आइए, सब दुःखों की निवृत्ति और सच्चे सुख की प्राप्ति के लिये

हम ईश्वर और आत्मा के सम्बन्ध में 'तत्त्वज्ञान' प्राप्त करने का प्रयत्न करें ।

इस संसार में मूल रूप से तीन पदार्थ अनादि हैं अर्थात् सदा से हैं और सदा रहेंगे = (Eternal) हैं । वे तीन पदार्थ हैं-ईश्वर, आत्मा और प्रकृति । ईश्वर को भगवान, परमात्मा आदि नामों से भी कहते हैं । आत्मा को जीव, जीवात्मा आदि नामों से भी कहते हैं । और प्रकृति के नाम मोटी भाषा में संसार, जगत्, (Matter) इत्यादि हैं । इन तीन पदार्थों में से प्रकृति या संसार = (Matter)के सम्बन्ध में तो लोग काफी कुछ जानते हैं । परन्तु ईश्वर और आत्मा के बारे में प्रायः नहीं जानते अथवा उल्टा जानते हैं । इसलिये इस पुस्तक में हम मुख्य रूप से ईश्वर और आत्मा के सम्बन्ध में ही विशेष चर्चा करेंगे ।

जब हम ईश्वर और आत्मा की बात करते हैं, तो प्रायः लोग इन दोनों पदार्थों को ठीक प्रकार से स्वीकार नहीं करते । इसका एक प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है, कि - ये दोनों ही पदार्थ आँखों से प्रत्यक्ष नहीं दीखते । यदि ये दोनों पदार्थ पृथ्वी, सूर्यादि की तरह आँखों से प्रत्यक्ष दीख जाते, तो इनकी सत्ता को स्वीकार करने में संभवतः लोगों को अधिक कठिनाई नहीं होती । परन्तु ये दोनों ही पदार्थ=(ईश्वर और आत्मा) परोक्ष हैं । इसलिये इनकी सत्ता को स्वीकार करना कुछ कठिन हो जाता है । अस्तु ।

किसी भी पदार्थ को जानने के लिये प्रमाणों की आवश्यकता होती है । प्रमाणों से ही पदार्थ का ज्ञान ठीक-ठीक हो पाता है, प्रमाणों के बिना नहीं । मुख्य रूप से प्रमाण चार हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण । न्याय दर्शन के प्रणेता-**महर्षि गौतम जी** ने अपने शास्त्र में इनका विस्तृत उल्लेख किया है । महर्षि गौतम जी का कहना है कि संसार के सभी पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं जाने जाते । जो पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं जाने जाते, उन्हें जानने के लिये अनुमान, उपमान तथा शब्द, इन अन्य तीन प्रमाणों की सहायता लेनी चाहिये । अतः ईश्वर और आत्मा, जो कि आँखों से प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते, उनको जानने के लिये भी हमें इन तीन प्रमाणों की सहायता लेनी होगी । तब हम इन दोनों पदार्थों के सम्बन्ध में भी ठीक-ठीक जान सकेंगे ।

वैसे तो प्रकृति में भी ऐसे अनेक पदार्थ हैं, जो आँखों से प्रत्यक्ष नहीं होते, उन्हें भी वैज्ञानिक लोग अनुमान और शब्द प्रमाण आदि के आधार पर स्वीकार करते हैं । उदाहरण के लिये-एक्स किरणें (X-Rays), भूमि की आकर्षण शक्ति, एटम=परमाणु के सूक्ष्म खण्ड=(इलैक्ट्रॉन, प्रोटोन, न्यूट्रॉन आदि) सब वस्तुएँ भौतिक विज्ञान में अनुमान और शब्द प्रमाण के आधार पर स्वीकार की जाती हैं । मैंने कई वैज्ञानिकों से पूछा, कि-"क्या आपने अपने जीवन में कभी इलैक्ट्रॉन को देखा है ?" उनमें से अधिकांश वैज्ञानिकोंने उत्तर दिया, कि-"हम पिछले 30-40 वर्षों

से इलैक्ट्रॉन के सम्बन्ध में पढ़-पढ़ा रहे हैं, इसके आधार पर खोज कार्य = (Research) कर रहे हैं, परन्तु इलैक्ट्रॉन को हमने भी कभी आज तक देखा नहीं है ।" इसका अर्थ यह हुआ कि-उन वैज्ञानिकोंने पुस्तकों में **शब्द प्रमाण** से पढ़कर इलैक्ट्रॉन की सत्ता को स्वीकार कर लिया । इसी प्रकार से हड्डियों के चित्र एक्स-रे फिल्म पर निकाल कर एक्स किरणों=(X-Rays) को **अनुमान प्रमाण** से जान लिया । जब प्रकृति में अनुमान और शब्द प्रमाण के आधार पर पदार्थों को जाना और स्वीकार किया जा सकता है, तो ईश्वर और आत्मा जैसे परोक्ष पदार्थों को भी अनुमान और शब्द प्रमाण के आधार पर जानने और स्वीकार करने में क्या बाधा है ? अतः हमें अपना हठ, दुराग्रह छोड़कर इन दोनों पदार्थों को भी जानने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये ।

शब्द प्रमाण क्या है ? प्रत्येक विद्या के क्षेत्र में उस-उस विषय की प्रामाणिक पुस्तकें (जिनमें वह विषय सत्य-सत्य लिखा हो), और उन-उन विद्याओं के विद्वानों के वचन **शब्द प्रमाण** कहलाता है । जैसे-गणित विद्या के क्षेत्र में गणित की पुस्तकें, संगीत विद्या के क्षेत्र में संगीत की पुस्तकें, विज्ञान के क्षेत्र में विज्ञान की पुस्तकें । इसी प्रकार से ईश्वर और आत्मा जैसे दार्शनिक विषय में वेद, दर्शन, उपनिषद् आदि सच्ची पुस्तकें 'शब्द प्रमाण' कहलाती हैं । जब भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में भौतिक विज्ञान की पुस्तकों के शब्द प्रमाण स्वीकार किये जाते हैं, तो ईश्वर आदि आध्यात्मिक विषयों में आध्यात्मिक पुस्तकों=(वेद, दर्शन, उपनिषद् आदि) के शब्द प्रमाण भी स्वीकार किये जाने चाहियें । यदि आध्यात्मिक क्षेत्र में आज के लोग इन आध्यात्मिक पुस्तकों के शब्द प्रमाणों को स्वीकार नहीं करते हैं, तो यह न्याय नहीं है । इससे मनुष्यों को हानि ही होगी, लाभ नहीं । अतः अपने और सबके लाभ के लिये हमें इन सत्य ग्रन्थों के शब्द प्रमाणों पर अवश्य ही विश्वास करना चाहिये ।

अनुमान प्रमाण क्या है ? प्रत्यक्ष दीखने वाले पदार्थ को देखकर उससे सम्बन्धित न दीखनेवाले पदार्थ को जान लेना **अनुमान प्रमाण** कहलाता है । जैसे-धुएँ को देखकर, दीवार के पीछे स्थित न दीखने वाली अग्नि को जान लेना 'अनुमान प्रमाण' है । न्याय विद्या के महान् तत्त्ववेत्ता-महर्षि गौतम जी ने इस अनुमान प्रमाण को विस्तार से समझाने के लिये **'पञ्चावयव-पद्धति'** को प्रस्तुत किया है । वह पद्धति इस प्रकार से है ।

पञ्चावयव-पद्धति में पाँच वाक्य होते हैं । इन्हीं पाँच वाक्यों को 'पञ्चावयव' कहते हैं । वाक्य=अवयव । अनुमान प्रमाण की इस पद्धति में पाँच वाक्यों का एक 'समुदाय' हो जाता है । अतः समुदाय की दृष्टि से एक वाक्य को एक 'अवयव' कहा जाता है । वे पाँच अवयव निम्नलिखित हैं-

(१) **प्रतिज्ञा** = 'साध्य'=(जिस बात को सिद्ध करना हो) को कहना या प्रस्तुत करना या अपने पक्ष की स्थापना करना 'प्रतिज्ञा' कहलाती है । इसे Thesis भी कहते हैं ।

(२) **हेतु** = साध्य की सिद्धि के लिये कोई कारण प्रस्तुत करना 'हेतु'= (Reason) कहलाता है । हेतु या कारण सही भी हो सकता है और गलत भी । गलत कारण (जो अपने साध्य की सिद्धि में असमर्थ है) को हेत्वाभास = (False Reason) कहते हैं । बतलाया गया कारण अपने साध्य=(प्रतिज्ञा) को सिद्ध करने में समर्थ है या नहीं, अर्थात् वह कारण सही है या नहीं; इस बात के लिये एक 'सार्वभौमिक सिद्धान्त' प्रस्तुत करना पड़ता है, जिसे 'व्याप्ति'[१] = (Universal Law) कहते हैं । इस व्याप्ति को बताये बिना हेतु का पता नहीं चलता, कि वह सही है या गलत । यदि व्याप्ति ठीक हो=(किसी प्रकार से वह भंग न हो, उसका खण्डन न हो सके), तो हेतु ठीक माना जाता है । यदि व्याप्ति भंग हो जाती है=(उसका खण्डन हो जाता है), तो हेतु गलत माना जाता है । ऐसा गलत हेतु = (हेत्वाभास) साध्य = (प्रतिज्ञा) की सिद्धि नहीं कर पाता ।

(३) **उदाहरण** = हेतु के बाद एक दृष्टान्त भी देना होता है । इस दृष्टान्त में, हेतु में बताई गई विशेषता तथा प्रतिज्ञा वाली विशेषता, दोनों होनी चाहियें । दोनों विशेषताएँ होने पर भी, उन दोनों में व्याप्ति भी होनी चाहिये । यदि व्याप्ति न हो, और हेतु तथा प्रतिज्ञा वाली विशेषताएँ (दोनों) हों, तब भी वह दृष्टान्त ठीक नहीं माना जाता । हेतु और दृष्टान्त का समन्वय करना, बड़ा कठिन कार्य है । दृष्टान्त = (Example) दो प्रकार का होता है । एक-साध्य के साधर्म्य से । दूसरा=साध्य के वैधर्म्य से । अर्थात् पहला दृष्टान्त वह है, जिसमें साध्य वाली विशेषता हो । दूसरा दृष्टान्त वह है, जिसमें साध्य वाली विशेषता न हो ।

(४) **उपनय** = इसका अर्थ दृष्टान्त और साध्य में तालमेल दिखाना, अर्थात् (Subsumptive Correlation अथवा The Application) है । इसे उपसंहार भी कहते हैं । यह भी दृष्टान्त के समान दो प्रकार का होता है । एक-साधर्म्य से । दूसरा-वैधर्म्य से । जब साधर्म्य से उपनय प्रस्तुत किया जाता है, तो ऐसा कहते हैं- "जैसा दृष्टान्त है, वैसा ही साध्य है ।" और जब वैधर्म्य से उपनय प्रस्तुत किया जाता है, तो ऐसा कहते हैं - "जैसा दृष्टान्त है, वैसा साध्य नहीं है ।"

टिप्पणी= (१) व्याप्ति भी दो प्रकार की होती है । एक-साधर्म्य से । दूसरी-वैधर्म्य से । जब व्याप्ति पें, हेतु वाला धर्म=(विशेषता) सकारात्मक=(Positive) रूप में बताया जाता है, तो उसे 'साधर्म्य व्याप्ति' कहते हैं । और जब हेतु वाला धर्म निषेधात्मक=(Negative) रूप में बताया जाता है, तो उसे 'वैधर्म्य व्याप्ति' कहते हैं ।

(५) **निगमन** = इस पाँचवें अवयव में पूर्व कही बातों = (हेतु और प्रतिज्ञा) को फिर से दोहरा कर अपनी बात को पक्का कर दिया जाता है । अर्थात् हम इसे अपने पक्ष का सार = (Conclusion) कह सकते हैं ।

अब इन पाँचों अवयवों को एक उदाहरण में देखते हैं । पहले साधर्म्य से व्याप्ति, उदाहरण और उपनय वाला पञ्चावयव का स्वरूप देखेंगे ।

(१) **प्रतिज्ञा** = शरीर नाशवान् है ।

(२) **हेतु** = क्योंकि शरीर उत्पन्न होता है, इसलिये । (व्याप्ति=साधर्म्य से) जो-जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह वह नाशवान् होती है ।)

(३) **उदाहरण** = (साधर्म्य से) जैसे-मकान ।

(४) **उपनय** = (साधर्म्य से) जैसे मकान उत्पन्न होता है, वैसे ही शरीर भी उत्पन्न होता है ।

(५) **निगमन** = इसलिये उत्पत्ति वाला होने से, शरीर नाशवान् है ।

अब वैधर्म्य से व्याप्ति, उदाहरण और उपनय वाला पञ्चावयव देखिये ।

(१) **प्रतिज्ञा** = शरीर नाशवान् है ।

(२) **हेतु** = क्योंकि शरीर उत्पन्न होता है, इसलिये । (व्याप्ति=वैधर्म्य से) जो जो वस्तु उत्पन्न नहीं होती, वह वह वस्तु नष्ट भी नहीं होती ।)

(३) **उदाहरण**=(वैधर्म्य से) जैसे-संसार का मूल द्रव्य = (Original Matter of Universe)

(४) **उपनय** = (वैधर्म्य से) जैसे संसार का मूल द्रव्य उत्पन्न नहीं होता, वैसा शरीर नहीं है । (अर्थात् शरीर तो उत्पन्न होता है ।)

(५) **निगमन** = इसलिये उत्पत्ति वाला होने से, शरीर नाशवान् है ।

इस प्रकार हम देखते हैं, साधर्म्य या वैधर्म्य से (जहाँ जैसी स्थिति हो) उक्त पाँच अवयवों के माध्यम से हम अपनी बात=(अपना पक्ष) ठीक ठीक सिद्ध कर सकते हैं । इसी को पञ्चावयव-पद्धति का अनुमान प्रमाण कहते हैं ।

परन्तु इन पाँच अवयवों के प्रयोग में सावधानी न रखी जाये, तो इनका दुरुपयोग भी हो सकता है । (जैसे-रक्षा के लिये प्राप्त की गई बन्दूक का दुरुपयोग करके किसी को लूटा भी जा सकता है ।) इन पाँच वाक्यों के दुरुपयोग=(गलत प्रयोग) का एक उदाहरण देखिये ।

(१) **प्रतिज्ञा** = खरगोश के सींग होते हैं ।

(२) **हेतु** = उसके दो पाँव होने से ।

(व्याप्ति=(साधर्म्य से) जिस-जिस प्राणी के दो दो पाँव होते हैं, उन सबके सींग होते हैं ।)

(३) **उदाहरण** = जैसे - बिल्ली के ।

(४) **उपनय** = (साधर्म्य से) जैसे बिल्ली के दो पाँव होते हैं, वैसे ही खरगोश के भी दो पाँव होते हैं ।

(५) **निगमन** = इसलिये खरगोश के दो पाँव होने से, खरगोश के सींग होते हैं ।

उक्त उदाहरण में पाँचों ही वाक्य गलत हैं । स्थूल दृष्टि से देखें, तो कोई समझेगा कि-कहने वाले ने अपने पक्ष में पाँचों बातें पूरी कही हैं और बहुत अच्छी कही हैं । वह अपनी बात=(प्रतिज्ञा) को सिद्ध कर गया है, कि खरगोश के सींग होते हैं । परन्तु सूक्ष्मता से जब विचार करेंगे, तो पता चलेगा कि - कहने वाले ने पाँचों बातें कही तो अवश्य हैं, परन्तु इनमें से ठीक तो एक भी नहीं है । इसी प्रकार से कहीं एक अवयव, कहीं दो और कहीं इससे अधिक अवयव भी गलत रूप में प्रयोग किये जाते हैं । उन अवयवों में कहाँ और क्या गलती है, यह पहचानना कठिन और परिश्रम साध्य है । यदि इन पाँचों अवयवों का प्रयोग ठीक ठीक किया जाये, तो व्यक्ति अनुमान प्रमाण की इस पद्धति से ईश्वर, आत्मा तथा अन्य भी परोक्ष पदार्थों को ठीक-ठीक जान सकता है और उनसे यथायोग्य लाभ ले सकता है ।

इस पुस्तक में मुख्य रूप से ईश्वर और आत्मा, इन पदार्थों को अनुमान प्रमाण की पञ्चावयव-पद्धति से समझाने का प्रयास किया गया है । कहीं कहीं शब्द प्रमाण का भी उपयोग किया गया है, वहाँ-वहाँ उसका उपयोग करना आवश्यक था, इसलिये । सभी प्रमाण मिल-जुल कर अनेक बातों की सिद्धि करते हैं । अतः जहाँ जिस प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है, वहाँ उसका सहयोग ले लिया जाता है ।

मैं आशा करता हूँ कि - बुद्धिमान् लोग इस पुस्तक से स्वयं लाभ उठाएँगे तथा अन्यों तक भी लाभ पहुँचाने का प्रयत्न करेंगे ।

इस पुस्तक के लेखन आदि में जो भी दार्शनिक योग्यता का उपयोग किया गया है, उसका श्रेय मैं पूज्य स्वामी सत्यपतिजी परिव्राजक को देता हूँ । क्योंकि उन्हीं की कृपा से मुझे दर्शन-विद्या प्राप्त हुई है । वे ही मेरे पूज्य गुरुवर्य हैं । इसकी रफ कापी तैयार करने में ब्र. दयानिधि दर्शनाचार्य जी ने मेरा सहयोग किया, उनका भी धन्यवाद करता हूँ । इस ग्रंथ के प्रकाशन आदि में श्री ज्ञानेश्वर जी दर्शनाचार्य ने जो भी सहयोग किया है इसके लिये मैं उनका भी आभारी हूँ । इसके अतिरिक्त, उन सभी सज्जनों का भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने ज्ञात-अज्ञात रूप से इस कार्य में मेरा सहयोग किया है ।

विनीत

विवेक भूषण

ओ३म्

तत्त्वज्ञान

तत्त्वज्ञान का प्रथम विषय-ईश्वर

"ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।" - महर्षि दयानन्द सरस्वती।

ईश्वर के सम्बन्ध में उक्त कथन- महान् दार्शनिक, तत्त्ववेत्ता, समाज सुधारक, परम तपस्वी, बाल-ब्रह्मचारी, वेदों के प्रकाण्ड विद्वान, अद्भुत तार्किक, महर्षि दयानन्द सरस्वती जी का है, जो उन्होंने आर्य समाज के दूसरे नियम के रूप में प्रस्तुत किया है। उक्त कथन में ईश्वर के जितने गुण बताये गये हैं, हम इन पर क्रमशः संक्षिप्त विवेचन और महर्षि गौतम प्रणीत न्यायदर्शन की पञ्चावयव-पद्धति से ईश्वर को जानने का प्रयत्न करेंगे। प्रस्तुत है-पहले 'संक्षिप्त विवेचन' और बाद में 'पञ्चावयव'।

विवेचन-१

ईश्वर सत् है। अर्थात् ईश्वर की सत्ता है। ईश्वर एक पदार्थ=वस्तु या चीज है। किन्तु यह बात प्रायः लोगों को जँचती नहीं, अन्दर तक उतरती नहीं। यह बात जँचनी तो चाहिये। तो फिर कैसे जँचे। इसके लिये ईश्वर के द्वारा निर्मित सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, असंख्य तारे, ऊँचे-ऊँचे पर्वत, विशाल एवं गंभीर सागर, नाना प्रकार के रंग-बिरंगे फूल, फल, वनस्पतियाँ, विविध प्रकार के जलचर प्राणी, थलचर और नभचर पक्षी आदि, इन पदार्थों को देखकर यह सोचना चाहिये, कि इन सबको बनानेवाला कोई विशेष कर्ता है जरूर। क्योंकि बिना कर्ता के कोई भी कार्य पदार्थ बन ही नहीं सकता।

गुलाब के फूल का रंग लाल, पत्ते हरे, डाली का रंग कुछ और ही दिखाई देता है। इन रंगों को कोई बाहर से तो नहीं भरता। मिट्टी को खोदने पर भी ये रंग नहीं मिलते। इसका तात्पर्य यह है कि इनका निर्माता अवश्य कोई है। इसी प्रकार आम, सेब आदि फलों में, गन्ने में

मिठास, और इमली, नींबू आदि फलों में खटास कहाँ से आई ? मिट्टी में तो किसी रस का पता चलता नहीं । इससे ज्ञात होता है कि इन विविध रसों को उत्पन्न करने वाला जरूर कोई है ।

संसार में तीन तत्त्व हैं । (१) प्रकृति (२) जीवात्मा (३) ईश्वर । इन तीनों के विषय में सूक्ष्मता से विचार करने पर ज्ञान होता है कि-इनमें से पहला तत्त्व= (प्रकृति) तो जड़ है, अर्थात् प्रकृति में ज्ञान-विज्ञान नहीं है । दूसरा तत्त्व जीवात्मा है, वह भी अल्पज्ञ=(थोड़े ज्ञान वाला) और अल्पशक्तिमान्=(थोड़ी शक्ति वाला) है । इस कारण से वह भी संसार के पदार्थों को बनाने में असमर्थ है । तो 'परिशेष न्याय' से[1] तीसरा तत्त्व=ईश्वर ही बचता है, जो ज्ञान-विज्ञान का भण्डार=(सर्वज्ञ) और सर्वशक्तिमान् है । वही सृष्टि के सूर्य, पृथ्वी आदि पदार्थों का निर्माता सिद्ध होता है । वही महावैज्ञानिक इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के विभिन्न पदार्थों को बुद्धिपूर्वक रचता है । संसार में विद्यमान लगभग छः अरब मनुष्यों के अंग= आँख, नाक, कान आदि समान होने पर भी सबके चेहरे भिन्न-भिन्न हैं, यह कितने आश्चर्य की बात है । यदि सबकी शक्लें=(चेहरे) एक जैसी होतीं, तो कितना अनर्थ=(व्यवहार में कठिनाई) होता । इसलिये हमें उस विशेषज्ञ, सर्वज्ञ की सत्ता को हृदय में अवश्य ही बिठा लेना चाहिये ।

घड़ी, पंखा, कार, कोठी आदि पदार्थों को देखकर हमें सहज ही बोध=(ज्ञान) होता है कि-ये सारी चीजें अपने आप नहीं बनी हैं । इनको बनाने वाले कारीगर है, विशेषज्ञ हैं । ठीक इसी प्रकार से इन सूर्य, चन्द्रमा, तारों, पहाड़, नदी, समुद्रों आदि को देखकर हमें यह गहराई से सोचना चाहिये कि-इन सबको बनाने वाला, इनको व्यवस्थित रूप से चलाने वाला कोई महान् विशेषज्ञ, व्यवस्थापक है - वही तो ईश्वर है ।

जीवन में व्यक्ति अनेक अवस्थाओं में ईश्वर की ओर झुकता है-

(१) रोग की अवस्था में- जब आस्तिक व्यक्ति रुग्णावस्था में बहुत सी ओषधियाँ खाकर भी स्वस्थ नहीं हो पाता, डॉक्टर लोग भी आशा छोड़ देते हैं - तब वह रोगी ईश्वर की ही शरण में जाता है । क्योंकि वही सबका अन्तिम आधार है ।

(२) वियोग की स्थिति में- जब किसी अतिप्रिय व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है

टिप्पणी (१) = तीन में से दो पदार्थों का परीक्षण हो जाने पर जो तीसरा बच गया । वह कार्य उस तीसरे का ही है । इसे 'परिशेष न्याय' कहते हैं ।

या कोई बहुत बड़ी हानि हो जाती है, तब ईश्वर की याद आती है ।

(३) भोगों से तृप्ति न मिलने पर- विविध भोगों को भोग-भोग कर भी जब तृप्ति नहीं होती, तो व्यक्ति को कुछ वैराग्य उत्पन्न होता है और वह ईश्वर की ओर झुक जाता है । जैसे-आजकल अमरीका आदि देशों के कुछ लोग भोगों से तृप्ति न पाकर ईश्वर की ओर बढ़ने में रुचि ले रहे हैं ।

इसके अतिरिक्त धर्म का उपदेश सुनने पर, श्मशान में तथा भयंकर संकट आ जाने पर भी ईश्वर की याद आ जाती है । इसलिये श्रद्धालु बनकर, आस्तिक बुद्धि से परमात्मदेव=(ईश्वर) को आकाश की भाँति सर्वत्र विराजमान मानकर, उसकी भक्ति नित्य किया करें । क्योंकि वेदादि सत्य शास्त्र ईश्वर को सर्वव्यापक मानते हैं-

"**ओ३म् खं ब्रह्म ।।**" - यजुर्वेद ४०/१७

पञ्चावयव-१

(१) **प्रतिज्ञा** - ईश्वर सत् है, अर्थात् ईश्वर का अस्तित्व है ।

(२) **हेतु** - सृष्टि रूपी कार्यवस्तु को देखकर उसके कर्ता का ज्ञान होने से ।

(व्याप्ति-(साधर्म्य से) जिस जिस कार्यवस्तु को देखकर उसके कर्ता का ज्ञान होता है, उस उस वस्तु के कर्ता का अस्तित्व सिद्ध होता है ।)

(३) **उदाहरण** - (साधर्म्य से) जैसे=मकान को देखकर मिस्त्री आदि कारीगरों का ज्ञान होता है ।

(४) **उपनय** - (साधर्म्य से) वैसे ही मिस्त्री आदि कारीगरों के समान ईश्वर का भी ज्ञान होता है ।

(५) **निगमन** - इसलिये सृष्टि रूपी कार्यवस्तु को देखकर उसके कर्ता (ईश्वर) का ज्ञान होने से, ईश्वर का अस्तित्व है ।।

(**नोट** : यदि व्याप्ति 'साधर्म्य से' प्रस्तुत की जाती है, तो उदाहरण तथा उपनय भी 'साधर्म्य से' ही दिखाये जाते हैं । यदि व्याप्ति 'वैधर्म्य से' प्रस्तुत की जाती है, तो उदाहरण और उपनय भी 'वैधर्म्य से' ही दिखाये जाते हैं । अतः आगे के पञ्चावयवों में 'साधर्म्य से' या 'वैधर्म्य से' यह संकेत केवल व्याप्ति के साथ एक बार ही करेंगे, उसी से आप समझ लेंगे कि उदाहरण और उपनय भी व्याप्ति के समान ही 'साधर्म्य से' या 'वैधर्म्य से' हैं ।)

विवेचन-२

ईश्वर चित्त् है । अर्थात् चेतन=(ज्ञान-विज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण=सर्वज्ञ) है । ईश्वर की ही यह विशेषता है कि उसे कुछ सीखना नहीं पड़ता । क्योंकि उसका सम्पूर्ण ज्ञान स्वाभाविक है और पूर्ण है । उसके ज्ञान में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं है । जीवात्माओं का स्वाभाविक ज्ञान अति अल्प=(बहुत थोड़ा) है । उस ज्ञान से जीवात्माओं का दैनिक व्यवहार भी नहीं चल पाता । इसलिये जीवात्माओं को नया-नया ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है । इसके बिना कोई भी विद्वान् नहीं बन पाता ।

इसके विपरीत ईश्वर=(परमात्मा) के लिये कोई भी ज्ञान, आविष्कार या क्रिया नई नहीं है । ईश्वर के ज्ञान में केवल 'आवृत्ति' होती रहती है । उसमें वृद्धि या ह्रास कभी नहीं होता । मनुष्यों का ज्ञान वृद्धि या क्षय को प्राप्त होता है । पूर्व प्राप्त ज्ञान भूल जाने से उसे फिर से प्राप्त करना पड़ता है । मनुष्य के ज्ञान में आवृत्ति भी होती रहती है । ईश्वर सर्वज्ञ होने से, उसे कभी भी भ्रान्ति या संशय नहीं होता । अल्पज्ञ जीवात्माओं को अनेक बार भ्रान्ति या संशय उत्पन्न होते रहते हैं ।

ईश्वर का ज्ञान-विज्ञान सदा एकरस और विशुद्ध बना रहता है । ईश्वर सर्वज्ञ है अर्थात् वह 'सब कुछ' जानता है । वह 'सब कुछ' क्या है ? वह 'सब कुछ' यह है-

(१) ईश्वर सब जीवात्माओं को जानता है कि वे कितने और कहाँ-कहाँ हैं ।

(२) सम्पूर्ण प्रकृति=(सत्त्व, रजस्, तमस्) के परमाणुओं की संख्या को भी जानता है ।

(३) जीवों के समग्र कर्मों को भी जानता है कि-जीव अच्छे से अच्छे और बुरे से बुरे, किन-किन कर्मों को कर सकते हैं ।

(४) जीवों के उक्त कर्मों के सभी अच्छे-बुरे फलों को जानता है ।

(५) मूल प्रकृति से कितने प्रकार के पदार्थ=(सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, जल, अन्नादि) बनाये जा सकते हैं, उन सबको जानता है ।

(६) सब सत्य विद्याओं=(गणित, भूगोल, खगोल, संगीत, विज्ञानादि)को जानता है ।

(७) उक्त सूर्यादि पदार्थों की स्थिति=(पालन) और विनाश आदि की

व्यवस्था और पद्धति को जानता है ।

(८) ब्रह्माण्ड में कौन-सा जीव वर्तमान में कब, कहाँ, क्या कर रहा है; प्रत्येक जीव के कर्मों को ईश्वर तत्काल जान रहा है ।

(९) ईश्वर अपनी योग्यताओं, कलाओं, विद्याओं आदि को भी अच्छी प्रकार से जानता है कि- 'मुझमें सृष्टि-रचना, पालनादि किस-किस प्रकार की योग्यताएँ और कलाएँ आदि हैं ।'

प्रश्न - ईश्वर त्रिकालज्ञ है अथवा नहीं ?

उत्तर - ईश्वर जीवों के कर्मों की अपेक्षा से त्रिकालज्ञ है, स्वतः नहीं । क्योंकि ईश्वर का ज्ञान सदा परिपूर्ण एवं एकरस रहता है । अतः उसके लिये सब वर्तमान ही है । ईश्वर के लिये भूत, भविष्यत् है ही नहीं । भूतकाल का अर्थ है- कोई ज्ञान पहले तो हमारे पास था, आज नहीं है । आज वह ज्ञान हमसे छूट गया या खो गया । इसे 'भूत=(था)' कहेंगे । यह बात जीवों पर लागू होती है, ईश्वर पर नहीं । अर्थात् जीव लोग बहुत सी बातें भूल जाते हैं, ईश्वर कभी भी, कुछ भी नहीं भूलता । अतः भूतकाल जीवों के लिये हुआ, ईश्वर के लिये नहीं । इसी प्रकार से भविष्यत्काल का अर्थ है- कोई ज्ञान आज हमारे पास नहीं है, आगे आने वाले समय में हम नया ज्ञान प्राप्त करेंगे । इसे 'भविष्यत्=(होगा)' कहेंगे । यह बात भी जीवों पर ही लागू होती है, ईश्वर पर नहीं । अर्थात् जीव लोग नई-नई बातें सीखते रहते हैं, जीवों का ज्ञान बढ़ता रहता है । ईश्वर कभी, कुछ भी नया ज्ञान प्राप्त नहीं करता, उसके ज्ञान में परिपूर्णता होने से, उसका ज्ञान कभी नहीं बढ़ता । अतः भविष्यत्काल भी जीवों के लिये ही हुआ, ईश्वर के लिये नहीं । सारांश यह हुआ कि- जीव लोग तीनों कालों में क्या-क्या कर सकते हैं, ईश्वर उन सब बातों को जानता है । इस दृष्टि से ईश्वर को त्रिकालज्ञ कहते हैं । ईश्वर की अपनी दृष्टि में तो तीन काल हैं ही नहीं ।

प्रश्न - काल क्या है ? क्या ईश्वर काल को भी जानता है ?

उत्तर - सूर्य, पृथ्वी आदि पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश के बीच की अवधि को 'काल ' कहते हैं । ईश्वर इन पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश को जानता है, इनके बीच की अवधि को भी जानता है । अतः ईश्वर काल को भी जानता है ।

प्रश्न - भविष्य में कब, कौन-सा जीव, किस कर्म को करेगा ? क्या इस बात

को ईश्वर पहले से जानता है ? यदि ईश्वर पहले से जानता है, तो उस-उस जीव को, उस-उस समय, वही वही कर्म करना पड़ेगा। इससे जीव कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं रहेगा और ईश्वर के ज्ञान के अनुसार उसे सारे कर्म करने पड़ेगे। वह कर्म करने में परतन्त्र हो जाएगा। तब जीव को कर्मों का दण्ड भी नहीं मिलना चाहिये। क्योंकि दण्ड तो, कर्म करने में स्वतन्त्र व्यक्ति को ही देना 'न्याय' है। और यदि ईश्वर, जीव के भविष्य के कर्मों को पहले से नहीं जानता, तो वह सर्वज्ञ कैसे हुआ ?

उत्तर - जीव=(मनुष्यादि) उत्तम से उत्तम तथा बुरे से बुरा, क्या-क्या कर्म कर सकते हैं, कर्मों की इस पूरी सूची को ईश्वर जानता है। कोई भी जीव, कभी भी, जो भी कर्म करेगा; वह ईश्वर की इस सूची में अवश्य होगा। इस दृष्टि से ईश्वर की सर्वज्ञता में कोई दोष नहीं आता। अर्थात् जीव भविष्य में कभी भी, कुछ भी कर्म करे; वह ईश्वर के लिये नया नहीं होगा। नई बात को जानने पर आश्चर्य होता है। जीव द्वारा किये गये किसी कर्म को जानकर, ईश्वर को ऐसा आश्चर्य कभी नहीं होता, कि- "अच्छा ! जीव ऐसा कर्म भी कर सकता है ! यह तो मुझे आज ही पता चला।" इसलिये ईश्वर, सब कर्मों को पूर्व से ही जानने के कारण सर्वज्ञ है।

परन्तु उन कर्मों में से जीव कब, कौन-सा कर्म करेगा ? यह बात ईश्वर के ज्ञान में पूर्वतः निर्धारित नहीं है। यदि ईश्वर पहले से जान ले, कि कोई जीव कब, क्या करेगा ? तो ईश्वर के ज्ञान को सत्य सिद्ध करने के लिये उस जीव को, उस समय, वह कर्म अवश्य ही करना पड़ेगा। तब जीव कर्म करने में परतन्त्र हो जाएगा। अतः यह बात ठीक नहीं है कि ईश्वर, पहले से जान ले कि='कौन-सा जीव कब, क्या करेगा'। क्योंकि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है। यदि "जीव अपनी स्वतन्त्रता के कारण उस कर्म में परिवर्तन कर सकता है, जो कर्म ईश्वर के ज्ञान में हैं", ऐसा मान लिया जाये, तो ईश्वर के ज्ञान से भिन्न कर्म करने के कारण, ईश्वर का ज्ञान 'मिथ्या' हो जाएगा। तब ईश्वर सर्वज्ञ नहीं रहेगा, क्योंकि सर्वज्ञ को कभी भी मिथ्याज्ञान नहीं होता है।

अतः ईश्वर की सर्वज्ञता का यही स्वरूप सत्य है कि- 'जीव किस किस प्रकार के कर्म कर सकता है', यह तो ईश्वर पहले से जानता है। परन्तु 'उन कर्मों में से कब, कौन-सा कर्म जीव करेगा', यह बात ईश्वर पहले से नहीं जानता। हाँ, जैसे-जैसे जीव कर्म करने की योजना बनाता जाता है, कि-'एक वर्ष बाद अमुक कर्म करूँगा', वैसे-वैसे, साथ-साथ ईश्वर भी जान लेता

है। यदि जीव अगले ही दिन अपनी योजना बदल दे, तो ईश्वर भी तत्काल जान लेता है, कि- अब इस जीव ने अपनी एक वर्ष बाद अमुक कर्म करने वाली योजना बदल दी है। अर्थात् जीव द्वारा कर्म करने की योजना पहले बनाई जाती है, फिर उसे ईश्वर जानता है। इस व्यवस्था में जीव की स्वतन्त्रता भी बनी रहती है और ईश्वर की सर्वज्ञता में भी कोई कमी नहीं आती ।।

पञ्चावयव-२

(१) **प्रतिज्ञा** – ईश्वर चित् है, अर्थात् चेतन है।

(२) **हेतु** – कर्मफल का ज्ञाता और कर्मफलप्रदाता होने से।

(व्याप्ति-(साधर्म्य से) जो-जो कर्मफल का ज्ञाता और कर्मफलप्रदाता होता है, वह-वह चेतन होता है।)

(३) **उदाहरण** – जैसे=न्यायाधीश।

(४) **उपनय** – न्यायाधीश के समान ही ईश्वर भी कर्मफल का ज्ञाता और कर्मफलप्रदाता है।

(५) **निगमन** – इसलिये कर्मफल का ज्ञाता और कर्मफलप्रदाता होने से, ईश्वर चित् है, अर्थात् चेतन है ।।

विवेचन-३

ईश्वर आनन्दस्वरूप है। यह बात बड़ी कठिनाई से मस्तिष्क में बैठती है, कि-ईश्वर आनन्दस्वरूप है। क्योंकि मोटे तौर पर इसका कोई लक्षण नहीं दीखता। 'ईश्वर में आनन्द है' – इस विषय में अथर्ववेद १०/८/४४ में कहा है- **"रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः"** अर्थात् ईश्वर, रस=आनन्द से परिपूर्ण है। उसमें किसी भी प्रकार की कोई कमी नहीं है।

जैसे भौतिक वस्तुओं=(फल, मिठाई आदि) में सुख या आनन्द है, वैसे ही 'ईश्वर में भी सुख है', इस बात को एक योगी व्यक्ति अपने अनुभव से जानता है। जैसे कि फल, मिठाई को खाने वाला अपने अनुभव से जानता है कि- 'फल, मिठाई में सुख है। वेदान्तदर्शन १/१/१२ में कहा है- **"आनन्दमयोऽभ्यासात्"** अर्थात् 'ईश्वर में सुख या आनन्द है', इस बात का अनुभव बार-बार ईश्वर के ध्यान का अभ्यास करने से होता है।

यद्यपि दोनों में = (भौतिक वस्तुओं तथा ईश्वर में) सुख या आनन्द है। फिर भी दोनों के आनन्द में स्तर के आधार पर=(Quality) में बहुत

अन्तर है । आइये, इस अन्तर को समझने का प्रयत्न करें-

(१) **भौतिक आनन्द** हमें पूर्णतया तृप्त नहीं कर पाता । कुछ क्षण तक अच्छा लगता है, फिर उसे छोड़ने की इच्छा हो जाती है । परन्तु ईश्वरीय आनन्द से पूर्ण तृप्ति हो जाती है । इसे दीर्घकाल तक भोगने के पश्चात् भी छोड़ने की इच्छा नहीं होती ।

(२) **प्राकृतिक =** भौतिक आनन्द में कई प्रकार का दुःख मिला हुआ होता है । जैसे=परिणाम दुःख, ताप दुःख, संस्कार दुःख और गुणवृत्तिविरोध दुःख । परन्तु ईश्वर का आनन्द बिल्कुल शुद्ध होता है । उसमें दुःख का नाम भी नहीं होता । वह केवल सुख ही सुख होता है ।

(३) **भौतिक आनन्द** को भोगने वाला व्यक्ति मन-इन्द्रियों का दास बन जाता है । परन्तु ईश्वरीय आनन्द को भोगने वाला व्यक्ति मन-इन्द्रियों का राजा बन जाता है ।

(४) **भौतिक आनन्द** को भोगने वाला जान-बूझ कर भी छल-कपट कर सकता है । किन्तु ईश्वरानन्द का भोक्ता जान-बूझ कर छल-कपट नहीं करता ।

(५) **भौतिक सुख** भोगने वाले को पुनर्जन्म अवश्य ही लेना पड़ता है । परन्तु ईश्वरीय आनन्द भोगने वाले का (समाधि के माध्यम से संस्कार दग्धबीज वत्=नष्ट हो जाने पर) मोक्ष हो जाता है । उसे पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता । इत्यादि दोनों पदार्थों के आनन्द में अनेक अन्तर हैं ।।

पञ्चावयव-३

(१) प्रतिज्ञा – ईश्वर आनन्द स्वरूप है ।

(२) हेतु – असम्प्रज्ञात समाधि वाले योगी को ईश्वर का आनन्द प्राप्त होने से । (व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जो-जो व्यक्ति असम्प्रज्ञात समाधि वाला नहीं है, वह वह ईश्वर के आनन्द को प्राप्त नहीं कर पाता ।)

(३) उदाहरण – जैसे=धनवान् सेठ आदि ।

(४) उपनय – असम्प्रज्ञात समाधि वाला योगी, सेठ के समान आनन्द से रहित नहीं है ।

(५) निगमन – इसलिये असम्प्रज्ञात समाधि वाले योगी को ईश्वर का आनन्द प्राप्त होने से, ईश्वर आनन्द स्वरूप है ।।

विवेचन-४

ईश्वर निराकार है। ईश्वर में आकार नहीं है। आकार को कैसे समझें ?

उत्तर = ईश्वर में 'रूप' गुण नहीं है। 'रूप' गुण के दो प्रकार हैं। (१) **स्थूल रूप** = जो आँखों से दीखता है। (२) **सूक्ष्म रूप** = जो आँखों से नहीं दीखता। जैसे-पृथ्वी, जल और अग्नि दिखाई देते हैं, इनमें स्थूल रूप है। परन्तु वायु और आकाश इन आँखों से दिखाई नहीं देते। इन दोनों में रूप का सर्वथा अभाव नहीं है। बल्कि सूक्ष्म रूप है। आँखों से दिखाई न देने के कारण हम मोटी भाषा में ऐसा कह देते हैं, कि- वायु और आकाश में रूप नहीं है, या ये दोनों निराकार हैं। वास्तव में इन दोनों पदार्थों में भी रूप या आकार है। क्योंकि जिन मूल तत्त्वों=(सत्त्व, रजस्, तमस्=प्रकृति) से पृथ्वी, जल, अग्नि आदि रूपवाले पदार्थ बने हैं, उन्हीं मूल तत्त्वों=(सत्त्वादि) से मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, वायु और आकाशादि पदार्थ भी बने हैं। यहाँ कार्य द्रव्य=(पृथ्वी, जलादि) में रूप है, तो कारण द्रव्य=(प्रकृति) में भी रूप निश्चित रूप से है ही। इसका कारण- भौतिक विज्ञान का नियम है, कि 'जैसे गुण कारण द्रव्य में होते हैं, वैसे ही गुण कार्य द्रव्य में देखे जाते हैं। अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती।' ये दोनों बातें महर्षि कणादजीने इन दो सूत्रों में कही हैं-

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ।। वैशेषिकदर्शन २/१/२८

कारणाभावात् कार्याभावः ।। वैशेषिकदर्शन १/२/१

अतः आकार वाले सूक्ष्म कारण पदार्थ=(प्रकृति)से, आकार वाले ही कार्य पदार्थ=वायु, आकाश आदि बन सकते हैं। इसलिये प्रकृति आदि सूक्ष्म पदार्थों में भी सूक्ष्म आकार गुण है। प्रकृति जड़ है, इस कारण से वह साकार है। परन्तु ईश्वर तो चेतन पदार्थ है। इसलिये ईश्वर में आकार बिल्कुल भी नहीं है, और वह सर्वथा निराकार है।

ध्यान के समय ईश्वर के निराकार स्वरूप का ही ध्यान करना चाहिये। इसमें प्रारम्भ में कठिनाई तो अवश्य होगी। क्योंकि हमारे चित्त पर निराकार स्वरूप के संस्कार नहीं हैं। साकार पदार्थों के तो बहुत गहरे संस्कार पड़े हुए हैं। अतः जिसका संस्कार नहीं होता, उसे स्वीकार करने में बड़ी कठिनाई होती है। कुछ लोग कहते हैं, कि निराकार का ध्यान करना कठिन पड़ता है। साकार का ध्यान करना सरल है। इसलिये पहले ईश्वर का ध्यान साकार रूप में करना

चाहिये, बाद में निराकार स्वरूप का ध्यान करना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि यदि निराकार ईश्वर का साकार रूप में ध्यान करेंगे, तो वह ईश्वर का ध्यान नहीं कहलायेगा। क्योंकि ईश्वर साकार तो है ही नहीं। सरलता के हेतु से, पानी को दूध मानकर नहीं पिया जा सकता। और न ही वह पानी, दूध के गुणों वाला लाभ हमें दे सकता। इसी प्रकार से निराकार ईश्वर का भी साकार रूप में ध्यान नहीं किया जा सकता। और न ही उस साकार रूप का ध्यान हमें सच्ची सुख-शान्ति दे सकता, जो निराकार ईश्वर का ध्यान करने से मिलती है। दूसरी बात-सच्चे अध्यापक सच्ची बात सिखाया करते हैं, झूठी नहीं। सुख-दुःख भी निराकार हैं। इन्हें कोई भी व्यक्ति साकार नहीं बताता। अर्थात् सुख-दुःख के सम्बन्ध में कोई ऐसा नहीं कहता कि-पहले सुख-दुःख को साकार रूप में समझो, फिर बाद में आपको हम निराकार रूप में समझाएँगे। जब निराकार सुख-दुःख को प्रारम्भ से ही निराकार रूप में समझाया जाता है और लोग इन्हें निराकार रूप में समझ भी लेते हैं। तो निराकार ईश्वर को प्रारम्भ से ही निराकार रूप में समझाने एवं समझने में क्या बाधा है ? वे अध्यापक सच्चे नहीं हैं, जो निराकार ईश्वर को साकार रूप में समझाते हैं। तीसरी बात - ईश्वर के नाम पर किसी अन्य साकार पदार्थ का ध्यान करते-करते उस साकार स्वरूप के संस्कार इतने दृढ़ हो जाते हैं, कि करोड़ों लोग चाह कर भी उस साकार स्वरूप को छोड़कर निराकार स्वरूप का ध्यान नहीं कर पाते। जब कि वे लोग भी यह स्वीकार करते हैं कि अन्त में तो ईश्वर निराकार ही है, अन्त में तो साकार का ध्यान छोड़कर निराकार का ही ध्यान करना चाहिये। परन्तु साकार स्वरूप के ध्यान के संस्कार दृढ़ हो जाने के कारण वे लोग जीवन के अन्तिम समय तक भी निराकार ईश्वर का ठीक प्रकार से ध्यान नहीं कर पाते। और ईश्वर के आनन्द, ज्ञान, उत्साह आदि गुणों को प्राप्त करने से वंचित रह जाते हैं। इसलिये प्रारम्भ से ही ईश्वर के निराकार स्वरूप का ही ध्यान करने का अभ्यास करना चाहिये। भले ही थोड़ा कठिन लगे, परन्तु सत्य तो यही है।

प्रश्न : यदि ईश्वर निराकार है, तो उसका प्रत्यक्ष या अनुभव कैसे हो सकेगा ?

उत्तर : किसी भी पदार्थ का प्रत्यक्ष या साक्षात्कार अथवा अनुभव उसके गुणों के माध्यम से होता है। जैसे-पृथिवी, जल आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष या अनुभव रूप, रस आदि गुणों के माध्यम से होता है। जो गुण पृथिवी, जल आदि पदार्थों

में नहीं हैं, उन गुणों के माध्यम से पृथिवी, जल आदि पदार्थों का अनुभव नहीं होगा। जैसे इच्छा, ज्ञान आदि गुण पृथिवी, जल आदि पदार्थों में नहीं हैं। तो इच्छा, ज्ञान आदि गुणों के माध्यम से पृथिवी, जल आदि का प्रत्यक्ष या अनुभव नहीं होगा। बल्कि जो रूप, रस आदि गुण हैं उनसे सहित और इच्छा, ज्ञान आदि गुणों से रहित ही स्वरूप में पृथिवी, जल आदि का अनुभव होगा। ठीक इसी प्रकार से ईश्वर में भी जो गुण=ज्ञान, बल, आनन्द आदि हैं, उनसे सहित ईश्वर का प्रत्यक्ष होगा। तथा जो रूप=(आकार) आदि गुण ईश्वर में नहीं हैं, उनसे रहित ही स्वरूप=(निराकार स्वरूप) में ही ईश्वर का प्रत्यक्ष या अनुभव होगा। जैसे हमें वायु का अनुभव रूप के बिना ही, स्पर्श गुण के माध्यम से होता है। वैसे ही ईश्वर का भी अनुभव रूप=(आकार) गुण के बिना; ज्ञान, आनन्द आदि गुणों के माध्यम से होगा। अतः ईश्वर निराकार होते हुए भी उसका अनुभव हो जाएगा।

पञ्चावयव-४

(१) **प्रतिज्ञा** – ईश्वर निराकार हैं।

(२) **हेतु** – रूप, रस आदि गुणों से रहित होने से।
(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जो-जो वस्तु रूप, रस आदि गुणों से युक्त होती है, वह-वह साकार होती है।)

(३) **उदाहरण** – जैसे = प्रकृति या पृथिवी, जल आदि प्राकृतिक पदार्थ।

(४) **उपनय** – ईश्वर, वैसा=(प्रकृति या पृथिवी, जल आदि प्राकृतिक पदार्थों जैसा) रूप, रस आदि गुणों से युक्त नहीं है।

(५) **निगमन** – इसलिये रूप, रस आदि गुण रहित होने से, ईश्वर निराकार है॥

विवेचन-५

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। इसका अर्थ है कि-ईश्वर अपने कार्यों को, सम्भव कार्यों को, तथा सृष्टि क्रम के अनुकूल कार्यों को, अपनी ही शक्ति से पूर्ण कर लेता है; उसमें अन्य किसी की सहायता नहीं लेता। ईश्वर के कार्य बड़े विस्तृत हैं। पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, आकाश-गंगाओं आदि को बनाना, ईश्वर का कार्य है। इस कार्य में ईश्वर न तो किसी से पूछता है कि इन पदार्थों को कैसे बनाऊँ! और न ही इन पदार्थों को बनाने में किसी की शक्ति का प्रयोग

करता है। वह तो अपने ही ज्ञान और शक्ति से इन कार्यों को अति-उत्तम रूप से सम्पन्न कर लेता है। इसी प्रकार से ईश्वर सभी प्राणियों के शरीरों को भी बनाता है। समस्त जीवों के कर्मों के फल भी स्वयं ही न्यायानुसार देता है। फल-फूल, वृक्ष-लताओं, ओषधि-वनस्पतियों को भी ईश्वर ही सुन्दर रूप में उत्पन्न करता है। संसार का प्रलय भी स्वयं ही करता है। ऋग्वेद आदि चारों वेदों का ज्ञान भी ईश्वर ही देता है। ये सब कार्य ईश्वर के हैं। ईश्वर इन अपने ही कार्यों को करता है, जीवों के कार्यों को नहीं। रोटी पकाना, रेल-विमान आदि बनाना, कपड़ा बुनना आदि कार्य जीवों के हैं। इन कार्यों को जीव करते हैं, ईश्वर नहीं।

ईश्वर सम्भव कार्यों को ही करता है, असम्भव कार्यों को नहीं। जैसे-प्रकृति से संसार की=(कारण द्रव्य से कार्य द्रव्य की) उत्पत्ति करना, सम्भव है। बिना कारण द्रव्य=प्रकृति के=(अभाव से) कार्य-द्रव्य= जगत् की = (भाव की) उत्पत्ति होना, असम्भव है। इसे तो ईश्वर भी नहीं कर सकता।

अनेक लोग इस 'सर्वशक्तिमान्' शब्द का अर्थ ऐसा करते हैं- 'वह जो चाहे, सो ही कर सकता है।' उन लोगों से निम्न प्रश्न पूछने चाहियें-

(१) क्या ईश्वर स्वयं को मारकर, अपने जैसा दूसरा ईश्वर बना सकता है?

(२) क्या ईश्वर ऐसा पहाड़ बना सकता है, जिसे वह स्वयं भी न उठा सके?

(३) क्या ईश्वर चोरी, अन्याय आदि पाप कर्म कर सकता है? इत्यादि।

ईश्वर सृष्टि क्रम के अनुकूल ही कार्य करता है, सृष्टिक्रम से विरुद्ध कार्य नहीं करता। जैसे-आग को पानी बना देना, कबूतर को मनुष्य या मनुष्य को गौ आदि उसी समय बना देना, इत्यादि। ये सब सृष्टि क्रम के विरुद्ध कार्यों को नहीं कर सकता; तो ये साधारण सी शक्ति वाले मनुष्य=(तथाकथित जादूगर या चमत्कारी बाबा लोग) उक्त कार्यों को क्या कर सकते हैं? कभी नहीं कर सकते। इसलिये संसार में जादू या चमत्कार के नाम पर जो कुछ चल रहा है, वह सब धोखा है। हाथ की सफाई या चालाकी है। इस धोखे से सबको बचना चाहिये। मनुष्य को जादू या चमत्कार से शीघ्र धनवान आदि बनने की बात नहीं सोचनी चाहिये, बल्कि अपने परिश्रम और ईमानदारी से ही धन प्राप्त करना चाहिये। ऐसा ही धन वास्तविक सुख देने वाला होता है। जादू या चमत्कार से धन प्राप्त करने की बात

सोचने वाला व्यक्ति आलसी और पुरुषार्थ हीन होता है । वह बिना परिश्रम के ही शीघ्र धनवान बनना चाहता है । ऐसा व्यक्ति धन प्राप्ति के लिये प्रायः अनुचित मार्ग अपना लेता है । उस अनुचित मार्ग से प्राप्त हुआ धन उस व्यक्ति को सच्चा सुख नहीं दे पाता और शीघ्र ही समाप्त या नष्ट हो जाता है । कभी-कभी तो चमत्कारों से धन-प्राप्ति करने के प्रयत्न में कुछ लोग अपने घर का धन भी खो बैठते हैं, नया धन प्राप्त होने की तो बात ही क्या ? अतः व्यक्ति को जादू या चमत्कारों पर विश्वास नहीं करना चाहिये बल्कि अपने पुरुषार्थ और ईश्वर की कर्म-फल-व्यवस्था एवं सर्वशक्तिमत्ता पर विश्वास करना चाहिये । अस्तु ।

ईश्वर में अनन्त शक्ति है । ईश्वर की शक्ति को समझने के लिये एक और दृष्टान्त लीजिये । हम दो-तीन किलोग्राम भार वाले लोहे के एक गोले को अपनी पूरी शक्ति लगाकर पच्चीस तीस फुट की दूरी तक ही फेंक पाते हैं । तो अरबों-खरबों मीट्रिक टन भार वाली इस पृथ्वी को गति देने में कितनी शक्ति की आवश्यकता पड़ेगी । इस पृथ्वी को वह महाशक्तिमान् ईश्वर ही निश्चित दिशा और निश्चित गति से अपनी शक्ति से चला रहा है । यह तो हुई एक छोटी सी पृथ्वी की बात । इस पृथ्वी से १३ लाख गुना बड़ा सूर्य है । और सूर्य जैसे बड़े-बड़े तथा सूर्य से भी बड़े-बड़े असंख्य तारे इस ब्रह्माण्ड में अपनी अपनी गतियों से भ्रमण कर रहे हैं । इन असंख्य तारों को धारण करने और गति देने में कितनी शक्ति लगेगी ! शायद हम ठीक ठीक कल्पना भी नहीं कर पाएँगे । परन्तु इतनी सब शक्ति एक अकेले ईश्वर में है । और वह अपनी ही शक्ति से इन असंख्य पिण्डों को अपनी अपनी चाल से चला रहा है । इतना सब करते हुए भी ईश्वर न तो कभी थकता है और न ही दुःखी होता है । इस कार्य में ईश्वर कोई भार या कठिनाई भी अनुभव नहीं करता, बल्कि सदा आनन्द में रहता हुआ ही, बड़े सहज भाव से उक्त कार्यों को करता है । यह है ईश्वर का सर्वशक्तिमान् स्वरूप । इतना ही नहीं, कि ईश्वर ने यह विशाल सृष्टि पहली बार बनाई हो । वह तो अनादि काल से असंख्य बार अब तक सृष्टि को बनाता, चलाता आ रहा है और भविष्य में भी अनन्त काल तक असंख्य बार सृष्टि को बनाता, चलाता रहेगा । अब सोचिये, वह कितना शक्तिशाली है ?

ईश्वर में अत्यधिक सहन शक्ति है । वह इस बात को जानता है कि जीव लोग, मेरी बनाई सृष्टि का दुरुपयोग करेंगे । मेरे बनाये हुए शरीरों को शराब, गांजा, चरस, व्यभिचार, लड़ाई-झगड़ा आदि करके नष्ट करेंगे । फिर भी वह

बनाता है-सुन्दर सृष्टि को, सुन्दर शरीरों को। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है। ईश्वर उसकी स्वतन्त्रता में बाधक नहीं बनता। दुर्जन व्यक्ति दूसरों को हिंसा, चोरी आदि दुष्ट कर्मों द्वारा दुःख देता है। कर्म करते समय, ईश्वर, उस दुर्जन व्यक्ति का हाथ नहीं पकड़ता। वह सब कुछ देखते हुए भी, समय आने पर=(मृत्यु के बाद) उस दुर्जन के कर्मानुसार उसे भयंकर दुःखदायक कुत्ता, सूअर, मछली आदि योनियों में जन्म देता है। ये ईश्वर की बनाई हुई जेलें हैं। इन जेलों में वे दुष्ट जीव अपने पाप कर्मों का फल (दुःख) भोगते हैं। परन्तु जब वे पापी लोग पाप कर्म करते हैं=(चोरी, व्यभिचार, जुआ खेलना, झूठ बोलना, शराब पीना आदि कर्म करते हैं), इन कर्मों का फल देने का समय आने तक ईश्वर, दुष्ट लोगों के कर्मों को सहन करता है। दुष्ट लोग ईश्वर की सुन्दर सृष्टि में प्रदूषण फैलाकर, तोड़-फोड़ करके इसे बिगाड़ते रहते हैं। ईश्वर यह सब सहन करता है, उद्विग्न नहीं होता। परन्तु समय आने पर उन दुष्ट जीवों को इन कर्मों का फल अवश्य देता है। फल देने से उसकी सहिष्णुता समाप्त हो गई, ऐसा नहीं मानना चाहिये। ईश्वर की सहिष्णुता का तात्पर्य इतना ही मानना, समझना चाहिये कि-दुष्टों को कर्म करते देखकर दुःखी या क्रोधित नहीं होता, अपना नियन्त्रण नहीं खो देता, जल्दबाजी में कोई अनुचित कर्म नहीं कर बैठता। फल देने के समय की प्रतीक्षा करता है। और न्याय के अनुसार सबको उचित फल देता है। दुष्ट कर्मों का फल ईश्वर न देवे, यह सहिष्णुता का स्वरूप नहीं है, यह तो अन्याय है। ईश्वर सहिष्णु=(सहनशील) है, अन्यायकारी नहीं।

इस सृष्टि को बनाने वाला भी वही ईश्वर है और नष्ट करने वाला भी वही ईश्वर है। संसार में जो बात फैली हुई है कि- ब्रह्मा जी सृष्टि की रचना करते हैं, विष्णु जी पालन करते हैं, और महेश जी जगत् का संहार करते हैं; ये तीनों अलग-अलग देवता हैं। यह बात ईश्वर को न समझने वाले अज्ञानी लोगों ने फैलाई है। वास्तव में इन तीनों कार्यों=(उत्पत्ति, पालन और विनाश) को एक ही ईश्वर करता है। ईश्वर एक ही है, तीन नहीं। और न ही एक ईश्वर अपने तीन अलग-अलग सहायक (Asistant) रखता है कि एक एक को एक एक कार्य सौंप देवे। इस विषय में वेदान्तदर्शन का यह सूत्र प्रमाण है-

जन्माद्यस्य यतः ।। वेदान्त १/१/२

अर्थात् जिस ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति, पालन और विनाश होता है।। एक अल्पशक्तिमान् कुम्हार घड़ों को बना सकता है, उनकी सुरक्षा रख सकता

है, उन घड़ों को नष्ट भी कर सकता है। जब कुम्हार ये तीनों कार्य अकेला कर सकता है, तो सर्वशक्तिमान् ईश्वर अकेला जगत् की उत्पत्ति, पालन और विनाश क्यों नहीं कर सकता! क्या वह कुम्हार से भी कमज़ोर है! नहीं, नहीं। अवश्य ही वह अकेला तीनों कार्य कर सकता है।

इस प्रकार से संक्षेप में ईश्वर के सर्वशक्तिमान् स्वरूप को समझने के लिये, ईश्वर के पाँच कार्य हम इस रूप में स्मरण कर सकते हैं-

(१) संसार की उत्पत्ति करना।

(२) संसार का पालन करना।

(३) संसार का विनाश करना।

(४) सब जीवों के कर्मों का ठीक-ठीक फल देना।

(५) चार वेदों का ज्ञान देना।।

पञ्चावयव-५

(१) **प्रतिज्ञा** – ईश्वर सर्वशक्तिमान् है।

(२) **हेतु** – सृष्टि-रचना आदि अपने कार्यों में अन्य किसी की सहायता न लेने से।

(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जो-जो अपने कार्यों को करने में अन्यों की सहायता लेता है, वह-वह सर्वशक्तिमान् नहीं होता।)

(३) **उदाहरण** – जैसे=जीव=(मनुष्य) आदि।

(४) **उपनय** – ईश्वर, जीव जैसा=(अन्यों की सहायता लेने वाला) नहीं है।

(५) **निगमन** – इसलिये सृष्टि-रचना आदि अपने कार्यों में अन्यों की सहायता न लेने से, ईश्वर सर्वशक्तिमान् है।।

विवेचन-६

ईश्वर न्यायकारी है। अर्थात् ईश्वर सदा न्याय ही करता है, अन्याय कभी नहीं करता। न्याय के कुछ मुख्य-मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार से हैं-

(१) अच्छे कर्म का अच्छा फल=(सुख) देना।

(२) बुरे कर्म का बुरा फल=(दुःख) देना।

(३) कर्म न किया जाये, तो फल भी नहीं देना।

(४) जितना कर्म किया हो, उतना ही फल देना। न कम, न अधिक।

(५) जो व्यक्ति कर्म करे, उसी को फल देना। अन्य को नहीं।

(६) पहले कर्म किया जाये, बाद में फल देना।

(७) यदि कर्म किया गया है, तो फल अवश्य देना। क्षमा या माफी नहीं मिलेगी।

(८) कर्म को ठीक-ठीक जाने बिना फल नहीं देना। जैसे=न्यायाधीश अभियोग=(मुकदमा) सुने बिना अपराधी को फल=(दण्ड) नहीं देता।

(९) फल अधिकारी व्यक्ति=(न्यायाधीश) द्वारा ही दिया जाना। जनता अपराधी को फल नहीं दे सकती। जनता न्यायाधीश को अपराध की सूचना दे सकती है।

(१०) स्वतन्त्र कर्ता को ही फल देना, परतन्त्र को नहीं। जैसे=बन्दूक चलाने वाला स्वतन्त्र है, उसी को फल मिलता है। बन्दूक परतन्त्र है, उसे फल नहीं मिलता।

न्यायकारी वही होगा, जो इन न्याय के नियमों के अनुसार चलेगा। इन नियमों के विरुद्ध कार्य नहीं करेगा। ईश्वर न्यायकारी है, अतः इन नियमों के अनुसार ही कर्मों का फल देता है, इन नियमों से बाहर नहीं जाता। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है। अपनी इच्छा से वह अच्छा या बुरा, जैसा चाहे वैसा कर्म कर सकता है। कर्म करते समय ईश्वर उसका हाथ नहीं पकड़ता। हाँ, ईश्वर जीव को, उसका मित्र होने के नाते से सुझाव अवश्य देता है। ईश्वर का सुझाव इस प्रकार का होता है- जब जीव अपने मन में कोई अच्छा काम=(सेवा, परोपकार, दान आदि) करने की योजना बनाता है, तो ईश्वर उसके मन में आनन्द, उत्साह, निर्भयता आदि उत्पन्न कर देता है। यह ईश्वर का सुझाव है कि जीव ऐसे अच्छे काम को कर लेवे। यदि जीव अपने मन में कोई बुरे काम=(चोरी, झूठ, धोखा देना आदि) करने की योजना बनाता है, तो ईश्वर उसके मन में भय, शंका, लज्जा आदि के भाव उत्पन्न कर देता है। यह ईश्वर का सुझाव है कि जीव ऐसे बुरे काम को न करे। परन्तु यह ईश्वर का सुझाव मात्र ही होता है, आदेश नहीं। जीव स्वतन्त्र है, वह ईश्वर के उक्त सुझाव को माने या न माने। जो जीव ईश्वर के सुझाव को अपनी इच्छा से मान कर अच्छे काम करता है और बुरे काम नहीं करता; ईश्वर उसे अच्छा फल=(सुख) न्यायपूर्वक देता है। और जो जीव ईश्वर के सुझाव को न

मानकर अपनी इच्छा से बुरे काम करता है; ईश्वर उसे बुरे कर्मों का बुरा फल=(दुःख) न्याय के अनुसार देता है। इस प्रकार से जीव कर्म करने में स्वतन्त्र और फल भोगने में ईश्वर की न्याय व्यवस्था के आधीन है। ईश्वर, जीव को अच्छे-बुरे कर्मों का फल सुख और दुःख के रूप में देता है। इन सुख-दुःखों को भोगने के लिये जाति=(मनुष्य, गौ, घोड़ा, कबूतर आदि), आयु=(जीने के लिये समय), भोग=(खाने-पीने, रहने आदि के स्थान) आदि साधन मुख्य रूप से देता है। कहीं कहीं जाति, आयु और भोग को फल=(सुख, दुःख) के साधन होने से फल भी कह दिया जाता है।

कर्मों का विभाजन अनेक प्रकार से किया गया है। प्रथम दृष्टिकोण :-

संविधान=(वेद आदि शास्त्रों) में चार प्रकार के कर्मों का उल्लेख है-

(१) **निष्काम कर्म=**मोक्ष-प्राप्ति की भावना से किये गये अच्छे (पुण्य) कर्म जैसे=वेद आदि शास्त्रों का अध्यापन, प्रचार, सेवा ईश्वरोपासना आदि करना। इन कर्मों का फल=मोक्ष में आनन्द मिलता है।

(२) **पुण्य कर्म=**सांसारिक सुख की प्राप्ति की भावना से किये गये अच्छे कर्म। जैसे दान देना, यज्ञ करना, सेवा, रक्षा आदि करना। इन कर्मों का फल=मनुष्य का जाति, आयु, भोग=(सांसारिक सुख) मिलता है।

(३) **मिश्रित कर्म=**कुछ पुण्य और कुछ पाप, दोनों का मिला-जुला स्वरूप। जैसे-खेती आदि में अन्न की उत्पत्ति से पुण्य होता है और कुछ कीड़े आदि मार देने से पाप भी होता है। इसका फल=कुछ सुख और कुछ दुःख, मिला जुला मिलता है।

(४) **पाप कर्म=**इन कर्मों से दूसरों को दुःख मिलता है। जैसे-चोरी करना, झूठ बोलना, व्यभिचार करना आदि। इनका फल=कर्म कर्ता को कुत्ता, सूअर, मछली, बन्दर, हाथी, भेड़िया आदि जन्मों में दुःख भोगना पड़ता है।

इन चार प्रकार के कर्मों में से, वेद आदि शास्त्रों में, प्रथम तीन प्रकार के कर्मों को ही करने का सुझाव दिया गया है। और चौथे=(पाप) कर्मों को न करने का सुझाव दिया गया है। अतः पाप कर्म तो कभी भी नहीं करने चाहियें।

कर्मों के विभाजन का द्वितीय दृष्टिकोण :-

(१) **क्रियमाण कर्म =** जिन कर्मों को हम वर्तमान काल में कर रहे हैं, उन्हें 'क्रियमाण कर्म' के नाम से कहा जाता है।

(२) **सञ्चित कर्म** - जो कर्म हम भूतकाल में कर चुके हैं, और उनका फल मिलना अभी आरम्भ नहीं हुआ, वे 'सञ्चित कर्म' कहलाते हैं ।

(३) **प्रारब्ध कर्म** - पूर्वकृत सञ्चित कर्मों में से जिन कर्मों का फल मिलना आरम्भ हो जाता है, उन्हें 'प्रारब्ध कर्म' कहते हैं । इसी को 'भाग्य' भी कहते हैं ।

इस बात को सदा स्मरण रखना चाहिये कि- कर्म किये बिना कुछ मिलता नहीं । किया हुआ कर्म कभी निष्फल होता नहीं । समय से पहले और भाग्य=(कर्म के उचित फल) से अधिक किसी को कुछ मिलता नहीं । अस्तु ।

कर्म की भावना और कर्म के परिणाम के आधार पर कर्म के फल में परिवर्तन हो जाता है । इस बात को हम निम्न उदाहरणों से समझने का प्रयत्न करेंगे । जैसे-

(१) सैनिक के द्वारा शत्रु-सैनिक को मार दिये जाने पर, अपने देश के सैनिक को पुरस्कार मिलता है । क्योंकि यहाँ सैनिक की भावना और कर्म का परिणाम दोनों अच्छे हैं ।

(२) एक डाकू के द्वारा एक नागरिक को मार दिये जाने पर, डाकू को दण्ड मिलता है । यहाँ पर डाकू की भावना और कर्म का परिणाम दोनों बुरे हैं ।

(३) एक डॉक्टर के द्वारा भूल से एक रोगी को ज़हर दे दिया गया, जिससे रोगी की मृत्यु हो गई । ईश्वर की न्याय व्यवस्था में इस डॉक्टर को कुछ कम दण्ड मिलेगा । क्योंकि यहाँ पर डॉक्टर की भावना तो अच्छी=(रोगी को बचाने की) थी । परन्तु उसकी भूल से=(अज्ञानतावश) कर्म का परिणाम=(रोगी की मृत्यु) अच्छा नहीं हुआ । (यदि डॉक्टर जानबूझकर रोगी को मार डाले, तो अधिक दण्ड मिलेगा । क्योंकि अब उसकी भावना भी बुरी और परिणाम भी बुरा है ।)

(४) एक प्रकाशक ने एक वर्ष में दस पुस्तकें प्रकाशित कीं । दूसरे प्रकाशकने उससे ईर्ष्या की भावना रखते हुए पन्द्रह पुस्तकें प्रकाशित कीं । यहाँ दूसरे प्रकाशक का कर्म मिश्रित माना जाएगा और फल भी मिश्रित ही मिलेगा । क्योंकि यहाँ पर दूसरे प्रकाशक की भावना बुरी=(ईर्ष्या) थी, परन्तु परिणाम अच्छा आया कि जनता को पढ़ने के

लिये अधिक पुस्तकें मिलीं। इत्यादि।

यह कर्म-फल का विषय बड़ा विस्तृत और जटिल=(समझने में कठिन) है। इसे पूरा-पूरा कोई भी मनुष्य नहीं जान सकता। मनुष्य अपनी अल्प बुद्धि से मुख्य-मुख्य बातें जान सकता है, जैसे कि न्याय के मुख्य सिद्धान्तों में बातें बताई गई हैं। व्यक्ति इतनी बातें भी ठीक से जान कर अच्छे कर्म करे और बुरे कर्मों से बचे, तो भी उसका कल्याण हो सकता है। इस कर्म फल के कठिन विषय को पूरा-पूरा तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और पूर्ण न्यायकारी ईश्वर ही जानता है। और वह पूर्ण न्यायकारी होने के कारण सब जीवों के कर्मों का ठीक-ठीक फल देता है॥

पञ्चावयव-६

(१) **प्रतिज्ञा** – ईश्वर न्यायकारी है।

(२) **हेतु** – उसमें स्वार्थ=(राग-द्वेष) न होने से।

(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जिस-जिस व्यक्ति में जब जब स्वार्थ देखा जाता है, तब तब वह वह व्यक्ति अन्याय करता है।)

(३) **उदाहरण** – जैसे=एक व्यक्ति स्वार्थ के कारण अपने पड़ोसी व्यक्ति पर झूठे आरोप लगाता है। यह अन्याय करता है।

(४) **उपनय** – ईश्वर, इन अन्यायकारी मनुष्यों के समान स्वार्थ युक्त नहीं है।

(५) **निगमन** – इसलिये स्वार्थ=(राग-द्वेष) रहित होने से, ईश्वर न्यायकारी है॥

विवेचन-७

ईश्वर दयालु है। 'दयालु' शब्द का सामान्य अर्थ है- दया के स्वभाव वाला या दया करने वाला। 'दया' शब्द का लोक प्रसिद्ध अर्थ है- कोई कितना भी भयंकर अपराध करे, तब भी उसे दण्ड न देकर छोड़ देना, माफ कर देना दया है। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। दया का सही अर्थ यह है कि- 'मन में दूसरे का हित, उन्नति, कल्याण चाहना दया है।' और जब इसी कल्याण की भावना से अपराधी को दण्ड देकर, और अधिक अपराध करने से बचाया जाता है, तो उसे 'न्याय' कहते हैं। न्याय और दया में कोई विरोध नहीं है। दोनों का एक ही प्रयोजन है, और वह है-दूसरे का कल्याण, हित या उन्नति

करना। अब दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि- जो दूसरे के कल्याण की हमारे मन में भावना है, वह 'दया' कहलाती है। और उसके कल्याण के लिये हम वाणी एवं शरीर से जो भी क्रिया=(दण्ड देना आदि) करते हैं, वह 'न्याय' कहलाता है। ईश्वर न्यायकारी भी है और दयालु भी। वह हम सबकी उन्नति, सबको सुख देना, दुःखों से बचाना चाहता भी है, यह उसकी 'दया' है। और हम जब अपराध=(पाप) करते हैं, तो हमें दण्ड देकर, और अधिक पाप करने से बचा भी देता है, यह उसका 'न्याय' है। अतः ईश्वर में ये दोनों ही गुण हैं और इन दोनों गुणों में कोई विरोध भी नहीं है।

ईश्वर के इस 'दया' गुण को हमें भी अपनाना चाहिये। हम इस 'दया' गुण को कैसे अपना सकते हैं ? हम सब भी दूसरों के कल्याण, उन्नति एवं हित की भावना मन में रखें। कोई किसी से द्वेष न करे, मन में किसी की हानि न चाहे। इस रूप में हम भी दयालु बन सकते हैं। मन में सबकी उन्नति चाहने के साथ साथ वाणी और शरीर से भी यथाशक्ति दूसरों को सहयोग भी देवें। तभी दया का स्वरूप ठीक ठीक माना जाएगा।

प्रश्न – यदि अपराधी को दण्ड दिये बिना छोड़ दिया जाये, और इसे दया कहा जाये, तो इसमें क्या दोष है ?

उत्तर – अपराधी को दण्ड दिये बिना छोड़ देने से, उसका अपराध करने में उत्साह बढ़ता जायेगा। वह और अधिक-अधिक एवं बड़े-बड़े अपराध करने लगेगा। इससे न तो उसके अपराध कम होंगे; और उसके अपराधों से जनता को जो दुःख मिल रहा है, न ही वह दुःख कम होगा। तो यह दया कहाँ हुई ? यदि अपराधी को दण्ड दिया जाये, तो उसके अपराध भविष्य में कम हो जाएँगे, उसका सुधार होगा; यह उस अपराधी पर दया ही तो हुई। और साथ-साथ उस अपराधी को दण्ड देने से, उसने प्रजा को दुःख देना कम कर दिया; यह प्रजा पर भी दया हुई। इसलिये अपराधी व्यक्ति पर सच्ची दया तभी होगी, जब उसे दण्ड देकर उसका सुधार किया जाये। अपराधी को दण्ड न देने से, न तो उस पर दया होती है और न ही प्रजा पर। यह दया और न्याय करने वाला व्यक्ति अपने अधिकार क्षेत्र में रहकर ही कार्य करे, तो ठीक रहेगा। जैसे माता-पिता अपने बच्चों पर, अध्यापक अपने विद्यार्थियों पर, पंचायत अपने गाँव के लोगों पर और नगरों में न्यायाधीश अपने नागरिकों पर, दया और न्याय का व्यवहार रखें। यही उन उन का अधिकार क्षेत्र है। यदि उक्त अधिकारी लोग अपने-अपने क्षेत्र के अनुसार दया और न्याय का व्यवहार

रखें, तो सबकी उन्नति और सबको सुख मिलेगा ।

प्रश्न – क्या सभी=(छोटे छोटे भी) अपराधों का दण्ड देना चाहिये ? और क्या सभी व्यक्ति दण्ड देवें ?

उत्तर – नहीं । छोटे-छोटे अपराधों=(जैसे-चलते-चलते किसी का हाथ हम से टकरा गया, रेल-बस में भीड़ अधिक होने के कारण किसी का सामान हमसे टकरा गया, इत्यादि) को तो सहन कर लेना चाहिये, उनका दण्ड नहीं देना चाहिये । अन्यथा हममें सहनशक्ति बिल्कुल समाप्त हो जाएगी और हमारा जीवन मनुष्यता से शून्य एवं एक मशीन जैसा हो जाएगा । ऐसा जीवन सुखदाई नहीं होगा । कहा भी है-

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान ।
तुलसी दया न छोड़िये, जब लग घट में प्राण ।।

दूसरी बात यह है कि- बड़े बड़े अपराधों=(चोरी, झूठ, शोषण, व्यभिचार, ज़हर पिला देना आदि) का दण्ड, अपराधियों को अवश्य देना चाहिये । इस कार्य को क्षत्रिय=(राजा, न्यायाधीश आदि) ही करेंगे, सब नहीं । क्षत्रिय यदि अपराधी को दण्ड न देवे, तो यह उसके लिये एक बड़ा दोष है । यदि ब्राह्मण अपने प्रति किये गये किसी अपराध का दण्ड अपराधी को न देवे, और उसे छोड़ देवे, तो उसके लिये यह बहुत बड़ा गुण है ।

प्रश्न – तब उस अपराधी को दण्ड न मिलने से उसका उत्साह अपराध करने में बढ़ जाएगा ।

उत्तर – उस अपराधी को दण्ड तो मिलना चाहिये, परन्तु उसकी व्यवस्था राजा, या समाज के लोग करें, वह ब्राह्मण स्वयं नहीं । यदि ब्राह्मण उसे स्वयं दण्ड देने लगे, तो इससे उसका योगाभ्यास और मोक्ष मार्ग में बाधा पड़ सकती है । अतः अपराधी को दण्ड देने का कार्य वेद आदि शास्त्रों में क्षत्रिय आदि को बताया गया है । वे अपराधी को दण्ड देंगे, इससे व्यवस्था नहीं बिगड़ेगी । ब्राह्मण (संन्यासी) लोग स्व-अपराधियों को दण्ड नहीं देते, उन्हें क्षमा कर श्रीमद् दयानन्द सरस्वती आदि अनेक ब्राह्मण=(संन्यासियों)ने लोगों के अनेक अन्याय सहन किये और उन्हें बिना कोई दण्ड दिये छोड़ दिया । अस्तु ।

अब ईश्वर की दया को देखें, जो कि अनेक प्रकार से वह हम सब पर दिन-रात कर रहा है ।

(१) ईश्वर हमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, तरह-तरह के अन्न,

फल-फूल, शाक-सब्ज़ी, ओषधियाँ, वनस्पतियाँ आदि पदार्थ बनाकर देता है, जिससे हम संसार में अनेक प्रकार का सुख भोगते हैं। यह ईश्वर की कितनी दया है!

(२) ईश्वर ने हमें शरीर, मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि आदि पदार्थ बनाकर दिये और सब प्रकार से कर्म करने एवं फल भोगने में समर्थ बनाया। यह ईश्वर की अपार दया है। इसके बिना हम न कुछ कर्म कर पाते और न ही किसी प्रकार का कोई फल भोग पाते।

(३) ऊपर बताई सब वस्तुएँ ईश्वर हमें बना कर देता है, फिर भी बदले में कोई किसी प्रकार का भी शुल्क=(फीस) हमसे नहीं लेता। यह उसकी बहुत बड़ी दया ही तो है। यदि वह हमसे फीस लेने लगे, तो हम कैसे दे सकें! हमारे पास उसको देने के लिये अपना कुछ भी तो नहीं है।

(४) ईश्वर की एक और बड़ी दया देखिये। परीक्षा भवन में, परीक्षक परीक्षार्थी को बता नहीं सकता कि-तुम प्रश्न का उत्तर ग़लत लिख रहे हो! परन्तु तब हम कोई ग़लत कार्य करने लगते हैं, तो उसी समय ईश्वर हमें मन में भय, शंका, लज्जा उत्पन्न करके सावधान कर देता है कि-तुम ग़लत कार्य कर रहे हो। इसी प्रकार से जब हम अच्छा कार्य करने लगते हैं, तो ईश्वर हमारे मन में आनन्द, उत्साह, निर्भयता उत्पन्न करके समर्थन कर देता है। और हम फिर भी यदि ईश्वर के संकेत पर ध्यान न दें, तो हमसे अधिक अभागा और कौन होगा! हम ईश्वर के संकेत पर ध्यान दें या न दें, परन्तु ईश्वर तो फिर संकेत करना रूपी अपनी दया को नहीं छोड़ता।

(५) ईश्वर हमारे कर्मों का ठीक ठीक फल देता है। और यह भी गारण्टी लेता है कि-'हे मनुष्यो! जो भी तुम पर अन्याय करेगा, उसको पूरा-पूरा दण्ड दूँगा और जिसकी उस अन्याय से जो क्षति=(हानि) हुई होगी, वह भी यथासमय पूरी कर दूँगा।' क्या यह ईश्वर की कोई कम दया है?

(६) ईश्वर ने हमें वेदों का ज्ञान दिया, जिसे पढ़कर (या प्राप्त करके) हम ठीक ठीक कर्म कर सकते हैं, अपराधों व दुःखों से बच सकते हैं। अच्छे मनुष्य तथा सभ्य, धार्मिक, विद्वान् बनकर सब सुखों को प्राप्त कर सकते हैं। यदि ईश्वर हमें वेदो का ज्ञान न देता, तो हम सब, पागलों या पशुओं जैसा जीवन जीते होते। वेदों का ज्ञान सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने हम सब

मनुष्यों के कल्याण के लिये दिया। यह उसकी बहुत बड़ी दया है।

(७) अज्ञानी लोग वेदों को नहीं पढ़ते। बार बार वेद विरुद्ध आचरण करते हैं और सृष्टि को दूषित करते रहते हैं। ईश्वर तब भी उनसे दुःखी नहीं होता। सृष्टि को बनाना बन्द नहीं कर देता। बार बार सृष्टि को बनाकर उन अज्ञानी लोगों को पुनः पुनः अवसर देता है कि- 'अब तो अच्छे कार्य कर लो। अब तो सुख को प्राप्त कर लो। अब तो मोक्ष को प्राप्त कर लो।'

(८) संसार के सुख तो ईश्वर देता ही है, इससे भी बढ़कर वह मोक्ष-सुख=(अपना आनन्द, पूर्ण और स्थाई आनन्द भी) देता है; और वह भी निःशुल्क। क्या यह कोई ईश्वर की कम दया है!

प्रश्न = ईश्वर संसार का सुख या मोक्ष सुख निःशुल्क=(मुफत में) देता है, या कर्म करने पर ?

उत्तर = ईश्वर, दोनों प्रकार का सुख देता तो कर्म करने पर ही है, परन्तु फिर भी वह निःशुल्क ही कहलाता है। क्योंकि दोनों प्रकार के सुखों को प्राप्त करने के लिये हम जो कर्म करते हैं, वे सब कर्म हम अपने सुख के लिये ही तो करते हैं। उन कर्मों से, ईश्वर को तो कोई व्यक्तिगत लाभ नहीं होता। जब उसे कोई व्यक्तिगत लाभ नहीं होता, तो उसे शुल्क कहाँ मिला ?

प्रश्न = अच्छा, तो हम कर्म करते हैं, ईश्वर हमें फल दे देता है। इसमें ईश्वर का क्या एहसान हम पर हुआ ?

उत्तर = वाह जी वाह! कितनी आसानी से आपने यह बात कह दी! अच्छा, यदि ईश्वर आपको कर्मों का फल न देवे, और यह कहे कि-"हे जीवो! तुम लोग अपनी शक्ति से स्वयं कर्म कर लो और स्वयं ही फल भी ले लो, मेरे पास फल लेने को क्यों आते हो! क्या मैंने तुमसे कोई ऋण=(कर्ज़) लिया है, कि जो मुझे तुम्हारे लिये फल देना ही पड़े।" तो क्या आप ईश्वर पर कोई अभियोग=(मुकदमा) चला देंगे, कि हमारे कर्मों का फल क्यों नहीं देता! क्या आप स्वयं अपने कर्मों का फल प्राप्त कर सकेंगे? इसलिये ज़रा होश में आओ। ईश्वर की दया और सहायता के बिना फल लेना तो दूर, आप कर्म भी नहीं कर सकते। हम ईश्वर पर किसी प्रकार का कोई दबाव भी नहीं डाल सकते कि-'हे ईश्वर! आपको हमारे कर्मों का फल देना ही

पड़ेगा ।' क्योंकि किसी व्यक्ति पर दबाव दो परिस्थितियों में डाला जा सकता है । (क) जब हमने उस पर कोई एहसान किया हो । (ख) जब हमारे पास उससे अधिक शक्ति, धन, सम्मान आदि हो । न तो हमने ईश्वर पर कोई एहसान किया है और न ही हमारे पास उससे अधिक शक्ति, धन, सम्मान आदि ही है । अतः हम ईश्वर पर दबाब नहीं डाल सकते, बल्कि प्रार्थना, निवेदन ही कर सकते हैं कि- 'हे प्रभो ! आप हमारे कर्मों का ठीक ठीक फल अपनी कृपा=(दया) से दीजिए ।'

इसलिये ईश्वर की अनेक प्रकार की उक्त दया को स्वीकार करते हुए, हमें उसके प्रति अत्यन्त श्रद्धालु एवं कृतज्ञ बनना चाहिये । और विधि-विधान से उसकी भक्ति-उपासना करके सांसारिक सुख और मोक्ष-आनन्द, दोनों को प्राप्त करना चाहिये ।।

पञ्चावयव-७

(१) प्रतिज्ञा – ईश्वर दयालु है ।

(२) हेतु – परोपकारी स्वभाव वाला होने से ।

(व्याप्ति-(साधर्म्य से) जो-जो व्यक्ति परोपकारी स्वभाव वाला होता है, वह वह दयालु होता है ।)

(३) उदाहरण – जैसे=वेदानुकूल आचरण वाला संन्यासी ।

(४) उपनय – ईश्वर, वेदानुकूल आचरण वाले संन्यासी के समान परोपकारी है ।

(५) निगमन – इसलिये परोपकारी स्वभाव वाला होने के कारण, ईश्वर दयालु है ।।

विवेचन-८

ईश्वर अजन्मा है । अर्थात् ईश्वर का जन्म नहीं होता । 'जन्म' शब्द से तीन प्रकार की संभावनाएँ या कल्पनाएँ की जा सकती हैं ।

(१) अभाव से भावरूप हो जाना ।

(२) अनेक कारण-द्रव्यों के संयोग से किसी कार्य-द्रव्य की उत्पत्ति हो जाना । जैसे-पृथ्वी, सूर्य आदि पदार्थों का जन्म ।

(३) किसी नित्य पदार्थ का किसी अन्य अनित्य पदार्थ के साथ संयोग-रूपी

जन्म हो जाना । जैसे-जीवात्मा शरीर के साथ संयुक्त हो जाता है ।

प्रथम सम्भावना - जैसे कुछ लोग मानते हैं कि सृष्टि से पहले अभाव ही था । ईश्वर ने कुछ शब्दों का उच्चारण किया और सृष्टि बन गई । यह बात सृष्टि पर लागू नहीं होती, अर्थात् बिना उपादान कारण के सृष्टि नहीं बन सकती । क्योंकि संसार में देखा जाता है कि बिना लकड़ी के कुर्सी नहीं बनती । बिना आटे के रोटी नहीं बनती । इसी प्रकार से बिना किसी उपादान-वस्तु के कुछ भी नहीं बनता । इसलिये ईश्वर भी अभाव से भावरूप नहीं हुआ है । बल्कि वह तो सदा से है और सदा ही रहेगा । इसी प्रकार से जीव और प्रकृति भी नित्य द्रव्य हैं । इन पर भी यह सम्भावना नहीं घटती कि ये दोनों पदार्थ भी अभाव से भावरूप बन जायें ।

द्वितीय सम्भावना - पृथ्वी के अवयवों से मिलकर पृथ्वी बनी । इसको पृथ्वी का जन्म कहते हैं । इसी प्रकार से सूर्य आदि असंख्य पदार्थ, उन-उनके अवयवों के मिलने से उत्पन्न हुए, यह उन सब पदार्थों का जन्म कहलाता है । शरीर के कारण-द्रव्यों=(अवयवों) से मिलकर शरीर बना, यह शरीर का जन्म कहलाता है । इस प्रकार के जन्म की सम्भावना भी ईश्वर पर नहीं घटती, कि ईश्वर, किन्हीं अवयवों=(कारण-द्रव्यों) के संयोग से कार्य-द्रव्य बन गया हो । ऐसा मानने से तो ईश्वर को पृथ्वी आदि पदार्थों के समान अनित्य मानना पड़ेगा, जबकि ईश्वर नित्य है ।

तृतीय सम्भावना- जो नित्य जीवात्मा का शरीर के साथ संयुक्त हो जाना जन्म कहलाता है । यह संयोग रूपी जन्म भी ईश्वर पर लागू नहीं होता । ईश्वर, जीवों की तरह शरीर धारण नहीं करता । कर्मफल के रूप में, भोग या दण्ड के रूप में, अथवा अन्य किसी कारण=(दुष्टों को मारने आदि के कारण) से भी वह शरीर धारण नहीं करता । ईश्वर अपने सभी कार्य=(सृष्टि-रचना, पालन, संहार आदि) बिना ही शरीर धारण किये स्वयं पूर्ण कर लेता है । जो ईश्वर बिना शरीर धारण किये बड़े बड़े सूर्यों को बना सकता है, क्या वह बिना शरीर धारण किये कंस, रावण आदि छोटे-छोटे मनुष्यों को मार नहीं सकता । निर्माण-कार्य कठिन और विनाश-कार्य सरल होता है । जब ईश्वर बिना शरीर के सूर्य आदि का निर्माण=(कठिन कार्य) कर सकता है, तो कंस, रावण आदि का विनाश=(सरल कार्य) के लिये उसे शरीर धारण करने की क्या आवश्यकता है ?

अतः ऊपर लिखी तीनों सम्भावनाएँ ईश्वर पर लागू नहीं होतीं । इसलिये वह अजन्मा है । ईश्वर का किसी प्रकार का कोई भी जन्म नहीं होता । वह सदा से है और सदा रहेगा । यह 'अजन्मा' स्वरूप, ईश्वर का निर्गुण स्वरूप है ।।

पञ्चावयव-८

(१) **प्रतिज्ञा** – ईश्वर अजन्मा है ।

(२) **हेतु** – प्रकृति का सुख-दुःख न भोगने से ।

(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जो-जो आत्मा प्रकृति का सुख-दुःख भोगता है, वह वह जन्म लेता है = (शरीर धारण करता है) ।)

(३) **उदाहरण** – जैसे=मनुष्यादि प्राणी ।

(४) **उपनय** – जैसे मनुष्यादि प्राणी सुखी-दुःखी होते हैं, वैसा ईश्वर सुखी-दुःखी नहीं होता ।

(५) **निगमन** – इसलिये प्रकृति का सुख-दुःख न भोगने से, ईश्वर अजन्मा है ।।

विवेचन-९

ईश्वर अनन्त है । 'अनन्त' का अर्थ है=अन्त न हो जिसका । अन्त= मृत्यु= समाप्ति । ईश्वर का अन्त=मृत्यु या समाप्ति कभी नहीं होती । ईश्वर की यह अनन्तता दो दृष्टिकोणों से है ।

प्रथम दृष्टिकोण= काल की दृष्टि से ईश्वर अनन्त है, अर्थात् कोई भी काल ऐसा नहीं होगा कि जब ईश्वर का अन्त या मृत्यु हो जाये । ईश्वर इस दृष्टि से अनन्त है, यह बात सरलता से समझ में आ जाती है । काल की दृष्टि से अन्त या मृत्यु को समझने के लिये तीन सम्भावनाएँ की जा सकती हैं ।

(१) भाव से अभाव हो जाना । यह स्थिति तो किसी भी वस्तु की=(जीव एवं प्रकृति की) भी संभव नहीं है । रोटी, वस्त्र, मकान, यान आदि वस्तुओं का नाश होने पर सर्वथा अभाव नहीं हो जाता । उनका रूपान्तर= (Transformation) अवश्य हो जाता है । तो ईश्वर का भी भाव=(सत्ता) है । उसका भी अभाव रूपी अन्त या मृत्यु नहीं हो सकती है । वह सदा से है और सदैव रहेगा ।

(२) कार्य-द्रव्य=(रोटी, वस्त्र, मकान आदि) का अन्त=विनाश होकर

कारण द्रव्य=(धागे, ईंट-पत्थर, मिट्टी आदि) के रूप में परिवर्तित हो जाना । इस प्रकार का अन्त उन्हीं वस्तुओं का होता है, जो अनेक अवयवों से मिलकर बनी हों । जैसे=वस्त्र, मकान आदि का उदाहरण ऊपर दिया है । परन्तु ईश्वर किन्हीं अवयवों से मिलकर नहीं बना है । अतः उसका नाश=अन्त वस्त्र, मकान आदि के समान रूपान्तरित हो जाने के रूप में नहीं हो सकता ।

(३) आत्मा का शरीर के साथ संयोग होना=जन्म है, और किसी काल में शरीर से वियोग=(अलग हो जाना) मृत्यु या अन्त कहलाता है । इस प्रकार का अन्त या मृत्यु भी ईश्वर पर नहीं लागू होता । क्योंकि ईश्वर जन्म से रहित=(शरीर को धारण ही नहीं करता) है । तो उसका ऐसा अन्त कैसे हो सकता है । अतः ईश्वर काल की दृष्टि से सब प्रकार से अनन्त है= कभी उसका नाश नहीं होगा ।

द्वितीय दृष्टिकोण=देश=(स्थान)की दृष्टि से ईश्वर अनन्त है । अर्थात् कोई भी स्थान ऐसा नहीं है, जहाँ ईश्वर का अन्त=समाप्ति हो जाती हो। उसका अन्तिम किनारा आ जाये । इस बात को समझना थोड़ा कठिन है । अन्त का अर्थ है समाप्ति । जैसे-वृक्ष, नदी, पर्वत आदि पदार्थों का एक ओर से आरम्भ और दूसरी ओर अन्त हो जाता है, उनका अंतिम किनारा या सीमा आ जाती है । किन्तु ईश्वर का ऐसा किनारा, अंतिम सीमा नहीं आती, कि उस स्थान से आगे ईश्वर न हो। ईश्वर इतना विशाल=(बड़ा) है, कि वह हमारी समझ में पूरा आ ही नहीं सकता। हमारी बुद्धि बहुत सीमित=(छोटी) है। अब तक तो वैज्ञानिक लोग इस ब्रह्माण्ड को भी पूरा नहीं समझ पाये । ईश्वर तो ब्रह्माण्ड से भी बहुत अधिक=(असंख्य गुणा) बड़ा है । फिर वह पूरा-पूरा हमारी समझ में कैसे आ सकता है। बस हम इतना ही कह सकते हैं कि-'ईश्वर अनन्त है, उसका कोई ओर-छोर हम नहीं पा सकते । वह इतना बड़ा है कि उसके विस्तार की कल्पना भी हम नहीं कर सकते ।' क्योंकि अब तक हमने पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, घर, विमान आदि सीमा वाले=(सान्त) पदार्थ ही देखे-सुने हैं । इसलिये 'ईश्वर अनन्त है=उसकी कोई सीमा ही नहीं है', यह बात हमारी अल्प बुद्धि में शीघ्र ही नहीं बैठती ।

प्रश्न = जब ईश्वर अनन्त है, उसे पूरा तो हम जान ही नहीं सकते, तो उसे जानने का प्रयत्न ही क्यों करें ?

उत्तर = जैसे नदी का पूरा पानी हम नहीं पी सकते, पूरी पृथ्वी का अन्न हम नहीं खा सकते, पूरी पृथ्वी पर हम नहीं सो सकते। फिर भी अपनी आवश्यकता के अनुसार थोड़ा सा पानी हम नदी से लेकर पी लेते हैं, थोड़ा-सा अन्न खा लेते हैं, थोड़ी-सी भूमि पर सो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार से हम ईश्वर को पूरा तो नहीं जान सकते, परन्तु जितना उसे जानना आवश्यक है=(जितना जानने से मोक्ष-प्राप्ति हो जाये) उतना तो अवश्य ही जानना चाहिये। जिससे कि हम सब दुःखों से छूटकर पूर्ण आनन्द को प्राप्त कर सकें। यही हमारा प्रयोजन=(लक्ष्य) है। और यह लक्ष्य ईश्वर को ठीक-ठीक जाने बिना पूर्ण हो नहीं सकता। आज संसार में जो सैंकड़ों सम्प्रदाय, मत, पन्थ चल रहे हैं, इनमें जो परस्पर झगड़े हैं। उनका कारण यही तो है, कि वे ईश्वर का स्वरूप ठीक से नहीं जानते। यदि सभी सम्प्रदायों के विद्वान=(अग्रणी, नेता) इकट्ठे होकर, हठ-दुराग्रह को छोड़कर ईश्वर का सत्य स्वरूप स्वीकार कर लें, तो ईश्वर के नाम पर होने वाले ये सभी झगड़े समाप्त हो सकते हैं। इन झगड़ों में मरने वाले अनेक मनुष्यों के प्राण बचाये जा सकते हैं। हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं, कि "हे प्रभो ! आपकी कृपा से सब सम्प्रदायों के विद्वान् शीघ्र ही एकमत होकर, संसार से झगड़ों को दूर कर सकें। और उनके कारण जो संसार के मनुष्यों को दुःख मिल रहा है, उसे दूर करके आपके न्यायालय में दण्ड के पात्र बनने से बच सकें।" इसलिये ईश्वर भले ही अनन्त है, फिर भी यथाशक्ति, अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये उसे जानने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये॥

पञ्चावयव-९ (क)

(१) **प्रतिज्ञा** – ईश्वर अनन्त है (काल की दृष्टि से)।

(२) **हेतु** – ईश्वर की उत्पत्ति न होने से=(उसका प्रारम्भ न होने से)।
(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जिस जिस वस्तु की उत्पत्ति=(प्रारम्भ) होता है, वह वह वस्तु काल की दृष्टि से अन्त वाली=(नश्वर) होती है।)

(३) **उदाहरण** – जैसे=मकान, मोटरकार, शरीर आदि।

(४) **उपनय** – ईश्वर, मकान-मोटरकार या शरीर आदि के समान उत्पत्ति=(प्रारम्भ) वाला नहीं है।

(५) **निगमन** – इसलिये उत्पत्ति=(प्रारम्भ) से रहित होने से, ईश्वर काल की दृष्टि से अनन्त है॥

(१) प्रतिज्ञा – ईश्वर अनन्त है (देश=स्थान की दृष्टि से) ।

(२) हेतु – अनन्त सामर्थ्य वाला होने से ।

(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जिस जिस पदार्थ का सामर्थ्य सीमित होता है, वह वह पदार्थ भी सीमित=(अन्तवाला=एकदेशी) होता है ।

(३) उदाहरण – जैसे=जीव ।

(४) उपनय – ईश्वर, जीव के समान सीमित=(अल्प) सामर्थ्य वाला नहीं है ।

(५) निगमन – इसलिये अनन्त सामर्थ्य वाला होने से, ईश्वर स्थान की दृष्टि से अनन्त है ।।

विवेचन-१०

ईश्वर निर्विकार है । अर्थात् विकारों से रहित है । 'विकार' शब्द का अर्थ है – किसी भी प्रकार का परिवर्तन । यह परिवर्तन या विकार दो प्रकार का होता है । एक प्रकार के विकार भौतिक वस्तुओं में होते हैं । दूसरे प्रकार के विकार चेतन जीवात्माओं में होते हैं ।

(१) प्रथम प्रकार के विकार हैं – उत्पन्न होना, बढ़ना, पकना, गलना, सड़ना, घटना, नष्ट होना इत्यादि । जैसे- शाक, फल-फूल आदि भौतिक पदार्थ उत्पन्न होते, घटते, बढ़ते, नष्ट आदि होते रहते हैं । इस प्रकार के विकार, कार्य-जगत् के सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों में होते हैं । परन्तु ईश्वर में इस प्रकार का कोई विकार=(उत्पन्न होना, घटना-बढ़ना, गलना, सड़ना आदि) नहीं होता । ये सब विकार उन्हीं सावयव=(अवयवों वाले) कार्य-पदार्थों=(सेब, केला, पञ्चमहाभूत, मन, बुद्धि आदि) में ही होते हैं । ईश्वर तो निरवयव पदार्थ है और कार्य-पदार्थ भी नहीं है=(उत्पन्न नहीं हुआ है) । अतः उक्त विकार ईश्वर में नहीं होते । (जीव भी निरवयव है, तथा वह भी कार्य-पदार्थ नहीं है । अतः जीव में भी उक्त विकार नहीं होते । प्रकृति यद्यपि सत्त्व, रजस् और तमस् का संघात होने से सावयव तो है, परन्तु कार्य-पदार्थ न होने से=(उत्पत्ति रहित होने से) घटना, बढ़ना, गलना, सड़ना, नष्ट होना आदि उपर्युक्त विकार प्रकृति में भी नहीं होते ।)

(२) द्वितीय प्रकार के विकार हैं– सुखी–दुःखी होना, ज्ञान की प्राप्ति होना, प्राप्त ज्ञान का घटना–बढ़ना–भूल जाना, इच्छाओं का उत्पन्न होना, नष्ट होना; काम–क्रोध–लोभ–मोह–अभिमान आदि दोषों का उत्पन्न हो जाना इत्यादि। इस प्रकार के विकार चेतन जीवात्माओं में उत्पन्न होते हैं। इन चेतन जीवात्माओं में सेब, केला आदि जड़–पदार्थों के समान गलना–सड़ना आदि विकार तो नहीं होते; परन्तु इच्छा, ज्ञान आदि में परिवर्तन होता रहता है। जैसे–किसीने सोचा कि–'मुझे मिठाई खाने से सुख मिलेगा।' तो उसमें मिठाई को प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हो जायेगी। यदि उसे पता चल जाये कि जिस मिठाई को वह खाने जा रहा है, वह ज़हरीली मिठाई है। तो उसे खाने की इच्छा घट या हट जायेगी। इस प्रकार से जीवात्मा का ज्ञान, इच्छा आदि घटते–बढ़ते और नष्ट आदि होते रहते हैं। जीवात्मा अपूर्ण है, उसमें ज्ञान, सुख–दुःख, इच्छा–द्वेष आदि आते–जाते रहते हैं, घटते–बढ़ते, नष्ट होते रहते हैं। अतः इस प्रकार के विकारों से वह युक्त होता रहता है। परन्तु ईश्वर परिपूर्ण है। उसमें कोई किसी प्रकार की कमी नहीं है। जब कोई कमी ही नहीं है, तो उसे पूर्ण करने की इच्छा भी कैसे हो सकती है? ईश्वर का ज्ञान भी पूर्ण है। न घटता है, न बढ़ता है। न ही ईश्वर कुछ भूलता है। अतः इन उक्त विकारों से भी ईश्वर रहित है। वह सब प्रकार से निर्विकार है।

प्रश्न–कोई जीवात्मा, जिस समय, किसी कर्म को करता है; उसी समय ईश्वर उस जीव के कर्म को जान लेता है। अतः ईश्वर के ज्ञान में वृद्धि होती है। ज्ञान में वृद्धि होने से, ईश्वर में भी द्वितीय प्रकार का विकार होना संभव है।

उत्तर – नहीं, ईश्वर में उक्त विकार नहीं होता। क्योंकि ईश्वर के ज्ञान में तब भी कोई वृद्धि नहीं होती। ईश्वर के ज्ञान में = (कर्मों की सूची में) वे सारे कर्म हैं, जिन्हें जीवात्मा कर सकता है। किन्तु 'कब, किस कर्म को, और कहाँ करेगा', यह बात जीव के द्वारा उस–उस कर्म को करने से पूर्व, ईश्वर नहीं जानता। जब जब, जो जो जीव जिस किसी कर्म को करता है, उसके बाद=(उसी समय) ईश्वर उसके कर्म को जान लेता है। इससे ईश्वर के ज्ञान की आवृत्ति मात्र होती है–कि 'अमुक जीव ने इस समय अमुक कर्म कर लिया है। वह कर्म मेरे ज्ञान में = (मेरी सूची में) पहले से ही है।' यह तो पूर्व ज्ञात कर्म को ही ईश्वर ने जाना=(दोहराया) अतः उसके ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं हुई। ईश्वर के ज्ञान में वृद्धि तो तब मानी जाये, जब जीव के द्वारा किसी कर्म को करने पर, उसे जानकर ईश्वर ऐसा सोचे कि– 'अरे! जीव ऐसा कर्म भी

कर सकता है ? यह तो मुझे आज ही पता चला । ऐसी तो मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी ।' इस प्रकार का आश्चर्य तो कभी ईश्वर को होता नहीं । अतः उसके ज्ञान में वृद्धि नहीं हुई । वृद्धि न होने से ईश्वर में द्वितीय प्रकार का विकार भी नहीं सिद्ध हुआ । अतः ईश्वर पूर्णतः निर्विकार है । (इस विषय की विस्तृत चर्चा विवेचन-(२) (ईश्वर चित्=सर्वज्ञ है) में हम कर चुके हैं । कृपया वहाँ पुनः देख सकते हैं ।)

पञ्चावयव-१० (क)

(१) प्रतिज्ञा - ईश्वर निर्विकार है = (ईश्वर गलता-सड़ता नहीं है) ।

(२) हेतु - निरवयव होने से=(अवयवों के संयोग से उत्पन्न न होने के कारण) ।

(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जो जो वस्तु सावयव=(उत्पन्न) होती है, उस-उस वस्तु में गलना, सड़ना, वृद्धि, ह्रास आदि विकार होते हैं ।)

(३) उदाहरण - जैसे=सेब, केला आदि ।

(४) उपनय - जैसे सेब, केला आदि सावयव पदार्थ गलना-सड़ना आदि विकारों से युक्त हैं, ईश्वर वैसा नहीं है ।

(५) निगमन - इसलिये निरवयव होने से, ईश्वर निर्विकार है=(ईश्वर गलता सड़ता नहीं है) ।।

पञ्चावयव-१० (ख)

(१) प्रतिज्ञा - ईश्वर निर्विकार है=(ईश्वर सुखी-दुःखी नहीं होता) ।

(२) हेतु - सर्वगुण सम्पन्न होने से (अथवा किसी भी प्रकार की न्यूनता=कमी न होने से) ।

(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जो-जो वस्तु सर्वगुण सम्पन्न नहीं होती, उस उसमें सुखी-दुःखी होना, ज्ञान का घटना-बढ़ना आदि विकार होते हैं ।)

(३) उदाहरण - जैसे=जीवात्मा ।

(४) उपनय - ईश्वर, जीवात्मा के समान न्यूनता वाला नहीं है ।

(५) निगमन - इसलिये सर्वगुणसम्पन्न होने से, ईश्वर निर्विकार है=(ईश्वर सुखी-दुःखी नहीं होता) ।।

विवेचन-११

ईश्वर अनादि है । अर्थात् ईश्वर का आदि=(प्रारम्भ=उत्पत्ति) नहीं है । जिस वस्तु का आदि=(उत्पत्ति) होती है, उस वस्तु की उत्पत्ति के तीन कारण अवश्य होते हैं । और जिस वस्तु के तीन कारण न हों, उसकी उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् उसका आदि नहीं होता, वह वस्तु अनादि होती है । वस्तुओं की उत्पत्ति के तीन कारण निम्नलिखित हैं-

(१) निमित्तकारण - वस्तु को ज्ञानपूर्वक= (योजनाबद्ध रूप से) बनाने वाला चेतन पदार्थ उस वस्तु का 'निमित्तकारण' कहलाता है । जैसे=मिठाई एक कार्य-वस्तु=(उत्पन्न होने वाली वस्तु) है । इसका निमित्तकारण=हलवाई है । जो कि चेतन है और ज्ञानपूर्वक मिठाई को बनाता है ।

(२) उपादानकारण - उस वस्तु को बनाने की जो सामग्री=(Material) है, उसे 'उपादानकारण' कहते हैं । जैसे=मिठाई का उपादान कारण=मैदा, चीनी, घी आदि है ।

(३) साधारणकारण - किसी कार्य-वस्तु की उत्पत्ति में उक्त दोनों कारणों=(निमित्तकारण और उपादानकारण) के अतिरिक्त जितने भी पदार्थ सहयोगी होते हैं, वे सब 'साधारणकारण' कहलाते हैं । जैसे=मिठाई के साधारणकारण=अग्नि, जल, कढ़ाई, कड़छी, भट्ठी आदि पदार्थ हैं । इसी प्रकार से मिठाई बनाने में जो काल, दिशा, आकाश, प्रकाश आदि का भी सहयोग (या प्रयोग) होता है, वे सब भी साधारण कारण कहलाते हैं ।

अब महत्तत्त्व से लेकर पञ्चमहाभूतों तक और वस्त्र, मकान से लेकर वायुयान, कम्प्यूटर आदि तक सभी उत्पन्न हुए पदार्थों के ये तीन-तीन कारण होते हैं । अतः इन सब उत्पन्न हुए पदार्थों को 'सादि'=(आदि सहित=उत्पत्ति वाले) पदार्थ कहा जाता है । परन्तु ईश्वर कोई उत्पन्न पदार्थ नहीं है, क्योंकि ईश्वर के उक्त तीन कारण उपलब्ध नहीं होते । न तो ईश्वर को बनाने वाला कोई निमित्तकारण=(कोई अन्य ईश्वर) है, जिसने इस ईश्वर को बनाया हो । न ही ईश्वर को बनाने के लिये उपादानकारण=(कोई सामग्री=Material) ही उपलब्ध है, जिससे ईश्वर को बनाया गया हो । और न ही ईश्वर को बनाने के साधारणकारण=(औज़ार आदि) कोई उपलब्ध हैं, जिनकी सहायता से ईश्वर को बनाया गया हो । अतः ईश्वर की उत्पत्ति के तीन कारण उपलब्ध न होने से ईश्वर का आदि नहीं है=(ईश्वर अनादि है) ।

प्रश्न-यदि ईश्वर के भी तीन कारण कल्पना से मान लिये जायें, कि इस ईश्वर को भी बनाने वाला कोई अन्य ईश्वर होगा । ऐसे ही इस ईश्वर का उपादानकारण और साधारण कारण=(औज़ार आदि) भी मान लिये जायें, तो !

उत्तर - तब भी बात वही रहेगी । इस=(पहले) ईश्वर को बनाने के लिये दूसरे ईश्वर की कल्पना करें । फिर वही परम्परा आगे भी चलेगी, कि-दूसरे ईश्वर को किसी तीसरे ईश्वर ने बनाया होगा । तीसरे को चौथे ने, इत्यादि । अन्त में कहीं न कहीं जाकर तो रुकना ही होगा । जहाँ जाकर रुकेंगे, वह अन्तिम ईश्वर स्वयं सिद्ध=(अनादि) ही मानना पड़ेगा । तब एक न एक तो ईश्वर को अनादि मानना ही पड़ेगा, चाहे इस=(पहले) ईश्वर को अनादि मान लो, चाहे अंतिम ईश्वर को । तब इसी=(पहले=वर्तमान में हम जिसकी चर्चा पुस्तक के प्रारम्भ से कर रहे हैं) ईश्वर को अनादि क्यों न मान लिया जाये । इस ईश्वर को अनादि मानना, प्रमाणों के अनुकूल भी है । और अनेक ईश्वर कल्पित करके किसी अन्य अंतिम ईश्वर को अनादि मानना, प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता ।

दूसरे पक्ष में, एक के बाद दूसरा, तीसरा, चौथा ईश्वर कल्पित करते ही जायें, कहीं पर रुकें ही नहीं, तो 'अव्यवस्था' का दोष आता है । ऐसी कल्पनाओं में कहीं व्यवस्था नहीं बनेगी जो कि बुद्धिगम्य हो । जिससे व्यक्ति को सन्तोष हो सके । यही प्रश्न जब भौतिक वैज्ञानिकों के सामने आया-कि जगत् की उत्पत्ति का मूल द्रव्य क्या है ? तो उन्होंने भी अनेक कारण द्रव्य खोज लिये । उनकी मान्यता के अनुसार-जगत् के कारण द्रव्य='रसायन'=(Elements), फिर उनके कारण='परमाणु'=(Attoms), फिर उनके कारण द्रव्य=इलैक्ट्रॉन, प्रोटोन, न्यूट्रॉन आदि 'Particals', फिर उनके भी कारण द्रव्य='क्वार्क्स'=(Quarks), फिर उनका भी कारण=अंतिम कारण='शक्ति' (Energy) है । अंतिम मूल कारण कहाँ से आया ? तो वे भौतिक वैज्ञानिक भी रूक गये । और कहा कि- अंतिम कारण अनादि है । न तो उसकी कभी उत्पत्ति होती है, और न ही उसका कभी विनाश होगा । उनकी भाषा में -

(1) Matter can neither be created nor destroyed.
(2) Energy can neither be created nor destroyed.

अतः बुद्धिगम्य व्यवस्था के लिये कारणों की खोज करते करते कहीं न कहीं तो अन्त में रुकना ही पड़ेगा । और जिस अंतिम कारण-द्रव्य पर

रुकेंगे, वह अनुत्पन्न=(अनादि) होगा । जैसे भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में जगत् का मूल द्रव्य अनादि है, उसकी उत्पत्ति के तीन कारण न मिलने से । इसी कारण से ही=(ईश्वर की उत्पत्ति के भी तीन कारण न मिलने से) ईश्वर भी अनादि है । (जीव की उत्पत्ति के भी तीन कारण उपलब्ध न होने से जीव भी अनादि है । इस प्रकार से, तत्त्वज्ञान की दृष्टि से, तीनों पदार्थ अनादि हैं-ईश्वर, जीव और प्रकृति) ।।

पञ्चावयव-११

(१) **प्रतिज्ञा** - ईश्वर अनादि है=(ईश्वर उत्पन्न नहीं हुआ है) ।

(२) **हेतु** - ईश्वर की उत्पत्ति के तीन कारण=(निमित्त, उपादान और साधारण) न होने से ।
(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जिस-जिस वस्तु की उत्पत्ति के उक्त तीन कारण होते हैं, वह वह वस्तु अनादि नहीं होती ।)

(३) **उदाहरण** - जैसे=मिठाई, वस्त्र, मकान आदि ।

(४) **उपनय** - ईश्वर, मिठाई-वस्त्र-मकान आदि के समान तीन कारणों वाला नहीं है ।

(५) **निगमन** - इसलिये ईश्वर की उत्पत्ति के तीन कारण न होने से, ईश्वर अनादि है=(ईश्वर उत्पन्न नहीं हुआ है) ।।

विवेचन-१२

ईश्वर अनुपम है । अर्थात् ईश्वर को समझाने के लिये किसी पदार्थ की ठीक ठीक उपमा नहीं है । पूर्ण उपमा नहीं है । उपमा का अर्थ है, किसी वस्तु का उदाहरण देकर किसी अन्य वस्तु के स्वरूप (या गुणों) को समझाना । जैसे किसी ने एक व्यक्ति की सुन्दरता को समझाने के लिये ऐसी उपमा का प्रयोग किया- "अमुक व्यक्ति तो ऐसा सुन्दर है, जैसे पूर्णिमा का चाँद ।" इस वाक्य में चाँद का उदाहरण देकर एक व्यक्ति की सुन्दरता को समझाने का प्रयत्न किया गया है । यहाँ चाँद की उपमा दी गई है, अतः इसे 'उपमान' कहते हैं । और जिस व्यक्ति की सुन्दरता को समझाने का प्रयत्न किया गया है, उसे 'उपमेय' कहते हैं ।

पूर्ण उपमा का नियम है कि- उपमान, उपमेय से उत्कृष्ट (अधिक अच्छा) होना चाहिये । जैसे कि उक्त उदाहरण में चाँद उपमान है । वह उस

व्यक्ति की सुन्दरता (उपमेय) से अधिक अच्छा है । इसलिये व्यक्ति की सुन्दरता को समझाने के लिये, अधिक सुन्दर=(चाँद) का उदाहरण या उपमा दी जाती है । कहीं-कहीं प्रसिद्ध वस्तु का उदाहरण भी दिया जाता है । जैसे-"जैसी गाय होती है, वैसी ही नीलगाय=(जंगल की गाय) होती है।" यहाँ नीलगाय को समझाने के लिये, प्रसिद्ध वस्तु=(गाय) का उदाहरण=(या उपमा) दी गई है । (किसी भी साध्य को समझाने के लिये जो उदाहरण दिया जाता है, वह १०० प्रतिशत साध्य के समान नहीं होता । जैसे- नीलगाय को समझाने के लिये गाय का उदाहरण दिया गया । तो गाय १०० प्रतिशत नीलगाय के समान नहीं होती । उससे काफी-कुछ मिलती-जुलती होती है । जिसे देखकर व्यक्ति गाय की समानता से नीलगाय को पहचान लेता है ।)

अब ईश्वर को समझाने के लिये, ईश्वर से किसी उत्कृष्ट वस्तु का उदाहरण दिया जाये, तब तो ईश्वर की पूर्ण=(ठीक ठीक) उपमा मानी जा सकती है । परन्तु श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है कि -

"न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते"

अर्थात् न कोई ईश्वर के समान है, और न ही उससे उत्तम पदार्थ कोई दीखता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि- ईश्वर की ठीक ठीक=(पूर्ण) उपमा तो है ही नहीं । इसीलिये ईश्वर को अनुपम कहा जाता है ।

प्रश्न = जब ईश्वर की पूर्ण उपमा है ही नहीं, तो ईश्वर को समझाएँगे कैसे ?

उत्तर = जब पूर्ण उपमा न मिले, तो हीन=(अपूर्ण) उपमा देकर समझाया जाता है । अतः वेद में ईश्वर को समझाने के लिये हीन उपमाओं का प्रयोग हुआ है । जैसे-"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं......" (यजुर्वेद ३१/१८) अर्थात् 'मैं उस महान् पुरुष=(ईश्वर) को जानता हूँ, जो सूर्य के समान तेजस्वी=(ज्ञानवान्) है । यहाँ ईश्वर को समझाने के लिये, सूर्य की उपमा दी गई है । यह हीन उपमा है । क्योंकि सूर्य में उतने गुण नहीं हैं, जितने ईश्वर में हैं । और जो सूर्य का उदाहरण दिया है, इसके सम्बन्ध में यह भी जानना चाहिये कि-'कोई भी उदाहरण, १०० प्रतिशत साध्य के समान नहीं होता ।' इस उक्त नियम के अनुसार ही यहाँ भी ऐसा समझना चाहिये- सूर्य जड़ है । ईश्वर चेतन है । सूर्य में भौतिक प्रकाश है । ईश्वर में भौतिक प्रकाश नहीं है । (यदि ईश्वर में भी भौतिक प्रकाश होता, तो ईश्वर सर्वव्यापक होने से, सृष्टि में कहीं भी अन्धकार नहीं रहता । जबकि रात्रि में हम सब अन्धकार का

अनुभव करते हैं ।) इत्यादि दोनों में असमानताएँ होते हुए भी यहाँ समानता, प्रकाश की दिखाई गई है । और ईश्वर में प्रकाश का अर्थ 'ज्ञान' समझना चाहिये। तात्पर्य यह हुआ कि ईश्वर में सूर्य के समान ज्ञान है। अर्थात् जैसे-सूर्य में बहुत अधिक प्रकाश है, ऐसे ही ईश्वर में बहुत अधिक ज्ञान है। यहाँ 'ईश्वर में प्रकाश' का अर्थ है 'ईश्वर में ज्ञान ।' प्रकाश का अर्थ 'ज्ञान', अनेक स्थानों पर देखा जाता है । जैसे-'ओं तमसो मा ज्योतिर्गमय ।' हमें अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो । यहाँ अन्धकार का अर्थ 'अज्ञान=अविद्या' है, और ज्योति=प्रकाश का अर्थ 'ज्ञान=विद्या' है ।

इसी प्रकार से ईश्वर को समझाने के लिये एक और हीन उपमा है- "ओ३म् खं ब्रह्म ।" (यजुर्वेद ४०/१७) "ईश्वर आकाश के समान बड़ा=(व्यापक) है ।" यहाँ भी आकाश की उपमा, हीन उपमा है । क्योंकि आकाश में भी उतने गुण नहीं हैं, जितने ईश्वर में हैं । अतः ईश्वर, पूर्ण उपमा न होने से, 'अनुपम' है ।।

पञ्चावयव-१२

(१) **प्रतिज्ञा** - ईश्वर अनुपम है = (उसकी कोई पूर्ण उपमा नहीं है) ।

(२) **हेतु** - उससे उत्कृष्ट कोई भी पदार्थ न होने से ।

(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जहाँ-जहाँ कोई पदार्थ, किसी दूसरे पदार्थ से उत्कृष्ट देखा जाता है, वहाँ-वहाँ उस उत्कृष्ट पदार्थ की उपमा दी जाती है ।)

(३) **उदाहरण** - जैसे=उसका मुख, चन्द्रमा के समान सुन्दर है ।

(४) **उपनय** - जैसे चन्द्रमा, उसके मुख से अधिक सुन्दर है; ऐसे कोई भी पदार्थ, ईश्वर से उत्कृष्ट नहीं है ।

(५) **निगमन** - इसलिये ईश्वर से उत्कृष्ट कोई भी पदार्थ न होने से, ईश्वर अनुपम है=(उसकी कोई पूर्ण उपमा नहीं है) ।।

विवेचन-१३

ईश्वर सर्वाधार है । अर्थात् सब पदार्थों का आश्रय, सबको धारण करने वाला है। ईश्वर कैसे सबका आधार है ! इस बात को हम इस प्रकार से समझ सकते हैं ।

हम जिस आसन पर बैठे हैं, वह हमारा आधार है । इस आसन का आधार पृथ्वी है, क्योंकि यह आसन पृथ्वी पर स्थित है । इसी प्रकार से वृक्ष-पर्वत, नदियाँ, सभी थलचर-जलचर आदि प्राणी भी इसी पृथ्वी पर टिके हुए हैं, इसलिये इन सबका आधार भी पृथ्वी है। अब पृथ्वी आदि ग्रह-उपग्रहों का आधार सूर्य है । सूर्य ने इन सबको अपने आकर्षण बल से धारण कर रखा है । इस पूरे सौर-मण्डल को आकाश-गंगाने धारण किया हुआ है, अतः सौर-मण्डल का आधार, आकाश-गंगा हुई । ऐसी-ऐसी असंख्य=(जिनकी संख्या हम नहीं गिन सकते, परन्तु ईश्वर की दृष्टि में सीमित) आकाश गंगाओं के समुदाय रूपी ब्रह्माण्ड को अकेले ईश्वर ने अपनी शक्ति से धारण कर रखा है । इसीलिये वह सबका आधार=(सर्वाधार) कहलाता है ।

वेद आदि शास्त्रों में भी ईश्वर को, सब पदार्थों का धारण करने वाला कहा गया है । जैसे-**"स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां....."** (यजुर्वेद १३/४) "वह ईश्वर पृथ्वी और सूर्यादि को धारण कर रहा है ।"

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति ।।" (तैत्तिरीय उपनिषद् ३/१) इस वचन में कहा गया है कि जिस तत्त्व से ये सब जगत् के पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जो इन सबका जीवन धारण-पोषण करता है और अन्त में ये सब पदार्थ जिस में रहते हुए नष्ट हो जाते हैं, उसे ही ब्रह्म=ईश्वर जानो । अर्थात् ईश्वर ही सब जगत् का उत्पादक, धारक और विनाशक है । उपनिषद् के इसी भाव को बाद में कुछ लोगों ने अंग्रेजी भाषा के GOD शब्द में समाहित कर लिया । G=Generater, O=Operater, D=Destroyer. इसलिये ईश्वर सबका धारणकर्ता होने से सर्वाधार है ।।

पञ्चावयव-१३

(१) प्रतिज्ञा - ईश्वर सर्वाधार है ।

(२) हेतु - सर्वशक्तिमान् होने से ।

(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जो-जो वस्तु अल्पशक्तिमान् होती है, वह वह वस्तु सर्वाधार नहीं होती ।)

(३) उदाहरण - जैसे = मनुष्य, पृथ्वी आदि ।

(४) उपनय - ईश्वर, मनुष्य-पृथ्वी आदि के समान अल्पशक्तिमान् नहीं है ।

(५) निगमन - इसलिये सर्वशक्तिमान् होने से, ईश्वर सर्वाधार है ।।

विवेचन-१४

ईश्वर सर्वेश्वर है । अर्थात् सबका स्वामी=राजा=अधिष्ठाता है । सबका=प्रकृति-विकृति, सभी जीवात्माओं और सब प्रकार के सत्य ज्ञान-विज्ञानों=(शक्तियों, सामर्थ्यों) का ईश्वर इन सबका स्वामी है । इसलिये वह सर्वेश्वर कहाता है ।

जितनी भी बड़ी प्रकृति है और विकृति=(जगत् के उत्पन्न हुए-हुए पदार्थ) है, वह सब ईश्वर की ही सम्पत्ति है । ईश्वर इस सब सम्पत्ति का उपयोग जीवों के कल्याण के लिये करता है । ईश्वर अपनी इच्छा और सामर्थ्य से भिन्न भिन्न प्रकार के पदार्थ बनाता है । ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध प्रकृति से कोई वस्तु नहीं बन सकती । क्योंकि प्रकृति जड़ पदार्थ होने से ईश्वर के आधीन है । ईश्वर उसका स्वामी=(मालिक, इच्छानुसार संचालक) है । इसलिये वह अपनी इच्छानुसार वस्तुएँ बनाता है । ऐसा कभी नहीं होता कि-ईश्वर, प्रकृति से सूर्य को बनाना चाहे, और बन जाये पानी । इस प्रकार से ईश्वर, सम्पूर्ण प्रकृति की व्यवस्था करने में, उस पर नियन्त्रण करने में, उसका संचालन करने में, समर्थ होने के कारण, प्रकृति-विकृति का स्वामी है ।

ईश्वर, जीवों का भी स्वामी है । यद्यपि जीव, कर्म करने में स्वतन्त्र अवश्य हैं, परन्तु फल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था के आधीन हैं । जीव, कर्म करके स्वयं फल नहीं प्राप्त कर पाते । इसके लिये उन्हें ईश्वर का आश्रय लेना ही पड़ता है । न तो जीव, ठीक ठीक जानते कि-किस कर्म का क्या फल है ? और न ही जीवों में कर्मों का फल स्वयं प्राप्त करने का सामर्थ्य ही है । जैसे कि किन्हीं शुभ कर्मों का फल हो = मनुष्य शरीर की प्राप्ति । तो जीव लोग स्वयं अपने लिये मनुष्य शरीर का निर्माण नहीं कर सकते । ऐसे ही, किन्हीं अशुभ कर्मों का फल हो=कुत्ते के शरीर की प्राप्ति । तो जीव अपने लिये, न तो कुत्ते का शरीर बना सकते; और न ही कुत्ते के शरीर को धारण करना चाहते । फिर भी अपने-अपने कर्मानुसार सबको मनुष्य, पशु-पक्षी आदि शरीरों में, अपना-अपना कर्म फल भोगने में किसी अन्य=(ईश्वर)ने व्यवस्था में बांधा हुआ है । इस रूप में ईश्वर जीवों का भी स्वामी=(राजा, अधिष्ठाता) है ।

इसके अतिरिक्त ईश्वर, सब सत्य-विद्याओं और शक्तियों का भी स्वामी है । सृष्टि को कैसे बनाना है, कैसे चलाना है, कैसे नष्ट करना है इत्यादि और

असमर्थ होने से ।

(व्याप्ति-(साधर्म्य से) जहाँ-जहाँ जीव अपने कर्मों का फल स्वयं लेने में असमर्थ होते हैं, वहाँ-वहाँ फल प्राप्त करने के लिये किसी अन्य फल प्रदाता, न्यायकारी, स्वामी के पास जाते हैं ।)

(३) **उदाहरण** – जैसे = नौकर अपना वेतन = (कर्म फल) लेने के लिये सेठ के पास जाते हैं ।

(४) **उपनय** – नौकरों के समान ही जीव भी अपने सभी कर्मों का फल प्राप्त करने के लिये ईश्वर का आश्रय लेते हैं = (स्वयं समर्थ नहीं हैं) ।

(५) **निगमन** – इसलिये जीवों के कर्मों का फल, जीव पूर्ण रूप से स्वयं लेने में असमर्थ होने से, ईश्वर सर्वेश्वर है = (सब जीवों का राजा = स्वामी है) ।।

पञ्चावयव-१४ (ग)

(१) **प्रतिज्ञा** – ईश्वर सर्वेश्वर है = (सब सत्य ज्ञानों, शक्तियों का स्वामी है) ।

(२) **हेतु** – किसी प्रकार का ज्ञान, शक्ति दूसरे से न लेने से = (सम्पूर्ण ज्ञान एवं शक्तियाँ ईश्वर की स्वाभाविक होने से) ।

(व्याप्ति – (वैधर्म्य से) जो जो व्यक्ति सम्पूर्ण ज्ञान एवं शक्ति का स्वामी स्वयं नहीं होता, वह वह व्यक्ति दूसरे मनुष्य आदि से, अपने कार्यों की सिद्धि के लिये ज्ञान एवं शक्ति का सहयोग लेता है ।)

(३) **उदाहरण** – जैसे = एक भारी पत्थर को उठाने के लिये एक मनुष्य, दूसरे दो-तीन मनुष्यों से ज्ञान एवं शक्ति का सहयोग लेता है ।

(४) **उपनय** – ईश्वर, उस अल्पज्ञान एवं अल्पशक्तिवाले मनुष्य के समान नहीं है ।

(५) **निगमन** – इसलिये किसी प्रकार का ज्ञान एवं शक्ति दूसरे से न लेने से, ईश्वर सर्वेश्वर है = (सब सत्य ज्ञानों और शक्तियों का स्वामी है) ।।

विवेचन-१५

ईश्वर सर्वव्यापक है । अर्थात् ईश्वर सभी जगह उपस्थित=विद्यमान है । कोई भी स्थान ईश्वर से खाली=(रिक्त) नहीं है । हम कैसे समझें, कि – ईश्वर सब जगह उपस्थित है ! जब हम अपने मन में कोई अच्छा कार्य=(सेवा, दान,

बनाने में जो शक्ति का उपयोग होता है; वह सब भी ईश्वर का अपना ही है । वही सब सत्य ज्ञानों का और शक्तियों का स्वामी=(मालिक) है । वह कुछ भी ज्ञान किसी दूसरे से नहीं सीखता । किसी से कुछ भी शक्ति न माँगता है, और न ही लेता है । बल्कि जीवों को सब सत्य ज्ञान ईश्वर ही वेद के माध्यम से देता है । सत्य ज्ञान ईश्वर देता है । वह कभी भी मिथ्याज्ञान या हानिकारक ज्ञान (जैसे-चोरी करने, जेब काटने की कला) नहीं देता । ये हानिकारक (दुःखदायक) कलाएँ जीवों के द्वारा आविष्कृत हुई हैं । ईश्वर का ज्ञान सदा शुद्ध रहता है, और उसका स्वभाव भी पवित्र होने से, वह कभी भी मिथ्याज्ञान या हानिकारक विद्या (या कला) नहीं सिखाता । जीव, अपनी मूर्खता=(अविद्या) से ऐसी ऐसी हानिकारक कलाओं का आविष्कार करता रहता है । अशुभ कर्म करता है । और फिर इनका फल=दुःख भोगता है । ईश्वर, सत्य ज्ञान एवं शक्ति किसी से प्राप्त नहीं करता, इसलिये वह अपने ज्ञान और शक्तियों का स्वामी है । इस रूप में वह सर्वेश्वर है ।।

पञ्चावयव-१४ (क)

(१) **प्रतिज्ञा –** ईश्वर सर्वेश्वर है = (सम्पूर्ण प्रकृति का स्वामी है) ।

(२) **हेतु –** अपनी इच्छानुसार प्रकृति से जगत् का निर्माण आदि व्यवस्था करने में समर्थ होने से ।

(व्याप्ति-(साधर्म्य से) जो जो व्यक्ति अपनी इच्छानुसार किसी वस्तु से किसी कार्य-पदार्थ का निर्माण आदि करने में समर्थ होता है, वह वह व्यक्ति उस उस वस्तु का स्वामी माना जाता है ।)

(३) **उदाहरण –** जैसे=कुम्हार मिट्टी का स्वामी माना जाता है ।

(४) **उपनय –** कुम्हार के समान ही, ईश्वर भी अपनी इच्छा से प्रकृति से जगत् का निर्माण आदि करने में समर्थ है ।

(५) **निगमन –** इसलिये अपनी इच्छानुसार प्रकृति से जगत् का निर्माण आदि व्यवस्था करने में समर्थ होने से, ईश्वर सर्वेश्वर है=(सम्पूर्ण प्रकृति का स्वामी है) ।।

पञ्चावयव-१४ (ख)

(१) **प्रतिज्ञा –** ईश्वर सर्वेश्वर है = (सब जीवों का राजा=स्वामी है) ।

(२) **हेतु –** जीवों के कर्मों का फल, जीव पूर्ण रूप से स्वयं लेने में

रक्षा आदि) करने की योजना बनाते हैं, तो हमें अपने अन्दर ही आनन्द, उत्साह, निर्भयता आदि का अनुभव होता है । और जब मन में कोई बुरा कार्य=(चोरी, झूठ बोलना आदि) करने की योजना बनाते हैं, तो मन में भय, शंका, लज्जा आदि का अनुभव होता है । ये दोनों अनुभव हमारे अन्दर ईश्वर उत्पन्न करता है । हम चाहे जिस भी स्थान पर हों । अकेले हों, या बाज़ार में हों । अन्धेरे में हों, या प्रकाश में हों । सभी जगह हमें ये दोनों अनुभव होते हैं । इससे पता चलता है कि - ईश्वर सभी जगह विद्यमान है, जो सभी जगह हमारे मन की कार्य-योजना को जान कर, अच्छी योजना के समय आनन्द, उत्साह आदि और बुरी योजना के समय भय, शंका आदि उत्पन्न कर देता है । यदि हम उसके इस संकेत को समझ कर मान लेते हैं, तो बुरे कार्य करने से बच जाते हैं और ईश्वर के दण्ड से भी बच जाते हैं । यदि हम उसका सुझाव=(उक्त संकेत) नहीं मानते और बुरा कार्य कर डालते हैं, तो ईश्वर हमें दण्ड देता है । वह तभी तो हमें दण्ड दे सकता है, जब वह हमारे कर्मों को ठीक-ठीक जान लेवे । और कर्मों को ठीक ठीक तभी जान सकता है, जब वह सर्वव्यापक=(सब जगह उपस्थित) हो । अतः ईश्वर सर्वव्यापक है ।

वेद में भी ईश्वर को सर्वव्यापक बतलाया गया है -

"ईशावास्यमिदं सर्वं......." (यजुर्वेद ४०/१)

"स पर्यगात्......" (यजुर्वेद ४०/८)

अर्थात् ईश्वर सर्वव्यापक है । यह सारा संसार ईश्वर से व्याप्त है ।

प्रश्न = जिस स्थान पर एक ईंट रहती है, उसी स्थान पर दूसरी ईंट नहीं रह सकती । इसी प्रकार से पूरे ब्रह्माण्ड में प्रकृति के परमाणु और जीवात्माएँ फैली हुई हैं । तो सभी जगह ईश्वर कैसे उपस्थित रह सकता है ?

उत्तर = "एक स्थान पर दो वस्तुएँ एक साथ नहीं रह सकतीं", यह नियम जड़ पदार्थों में घटता है । क्योंकि ईंट - पत्थर, परमाणु आदि जड़-पदार्थ स्थान घेरते हैं । इसलिये जिस स्थान को एक ईंट ने घेर लिया, वहाँ दूसरी ईंट नहीं आ सकती । परन्तु चेतन वस्तुएँ स्थान नहीं घेरतीं । जीव और ईश्वर, दोनों चेतन हैं । अतः दोनों ही स्थान नहीं घेरते । प्रकृति के परमाणु पूरे ब्रह्माण्ड में फैलकर अपना अपना स्थान घेर लेते हैं । जीव और ईश्वर चेतन होने के कारण स्थान नहीं घेरते और प्रकृति के परमाणुओं के साथ ही वे दोनों भी रह लेते हैं । इस प्रकार से तीनों पदार्थ एक ही स्थान पर रह सकते हैं । इसलिये सर्वत्र व्यापक

होकर रहने में ईश्वर के लिये कोई बाधा नहीं है। वेद के प्रमाण=(शब्द प्रमाण) ऊपर दिये ही जा चुके हैं ।।

पञ्चावयव-१५ (क)

(१) प्रतिज्ञा – ईश्वर सर्वव्यापक है ।

(२) हेतु – सर्वज्ञ होने से ।

(व्याप्ति – (वैधर्म्य से) जो जो व्यक्ति अल्पज्ञ होता है, वह वह एकदेशी होता है ।)

(३) उदाहरण – जैसे=जीवात्मा ।

(४) उपनय – जीवात्मा के समान ईश्वर अल्पज्ञ नहीं है ।

(५) निगमन – इसलिये सर्वज्ञ होने से, ईश्वर सर्वव्यापक है ।।

पञ्चावयव-१५ (ख)

(१) प्रतिज्ञा – ईश्वर सर्वव्यापक है ।

(२) हेतु – पूर्ण न्यायकारी होने से ।

(व्याप्ति–(वैधर्म्य से) जो जो व्यक्ति पूर्ण न्यायकारी नहीं होता, वह वह एकदेशी होता है । अर्थात् एकदेशी व्यक्ति सबके सभी कर्मों को ठीक ठीक न जान पाने से, पूर्ण न्याय नहीं कर पाता ।)

(३) उदाहरण – जैसे=किसी कम्पनी का मालिक आदि ।

(४) उपनय – ईश्वर, किसी कम्पनी के मालिक के समान=(पूर्ण न्यायकारी न हो, ऐसा) नहीं है ।

(५) निगमन – इसलिये पूर्ण न्यायकारी होने से, ईश्वर सर्वव्यापक है ।।

विवेचन-१६

ईश्वर सर्वान्तर्यामी है । अर्थात् सबके अन्दर रहकर सबका नियन्त्रण करने वाला है। ईश्वर सबके अन्दर रहता है, यह बात तो ऊपर 'सर्वव्यापक' शब्द से कह दी गई। इस 'सर्वान्तर्यामी' शब्द में उससे भिन्नता यह है कि वह सबका नियन्त्रण करता है। ईश्वर किस प्रकार से सबका नियन्त्रण करता है– (१) सब जीवों के अन्दर रहता है। उनकी मानसिक योजनाओं, विचारों को जानकर, उनमें आनन्द, उत्साह आदि अथवा भय, शंका आदि उत्पन्न करता

है । इस रूप में ईश्वर जीवों का नियन्त्रण करता है । ईश्वर का यह नियन्त्रण केवल संकेत रूपी=(सुझाव मात्र) ही होता है । ईश्वर, किसी भी जीव का, बुरा काम करते समय, हाथ नहीं पकड़ता, कि- "मैं इस जीव को बुरा काम करने ही नहीं दूँगा ।" यदि ईश्वर ऐसा करने लगे, तो सभी का हाथ पकड़ लेगा । कोई भी जीव किसी भी बुरे काम को कर ही नहीं पाएगा । तब जीव की, कर्म करने की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाएगी । क्योंकि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, इसलिये ईश्वर किसी जीव का हाथ नहीं पकड़ता । उसका नियन्त्रण सुझाव तक सीमित रहता है ।

(२) मृत्यु के बाद जीवों को कर्मानुसार फल देने में ईश्वर का नियन्त्रण रहता है । अर्थात् ईश्वर अपने कर्म-फल के संविधान के अनुसार सब जीवों को उनके कर्मों का फल=(मनुष्य, पशु-पक्षी आदि जन्म) देता है । जीव कर्म करें बुरे, और फल चाहें एवं प्राप्त कर लेवें अच्छा; ऐसा कभी नहीं हो सकता ।

(३) जो व्यक्ति समाधि लगाता है, उसे ईश्वर तुरन्त आनन्द दे देता है । क्योंकि आनन्द ईश्वर के नियन्त्रण=(वश) में है ।

(४) ईश्वर प्रजनन-व्यवस्था पर नियन्त्रण रखता है । अर्थात् गेहूँ से गेहूँ, चने से चना, गौ से गौ और मनुष्य से मनुष्य ही उत्पन्न होते हैं । मनुष्य से सूअर घोड़े से हाथी आदि विजातीय प्राणी उत्पन्न नहीं होते । यह सजातीय पदार्थ से सजातीय पदार्थ की उत्पत्ति की व्यवस्था नियन्त्रणपूर्वक ईश्वर ने ही की है ।

(५) नदियाँ, समुद्र, पृथ्वी, सूर्य-चन्द्रमा और आकाश-गंगाएँ आदि सब जड़ पदार्थ भी ईश्वर के नियन्त्रण=(व्यवस्था) में ही चलते रहते हैं । ईश्वर ने ही इन सब पदार्थों को उत्पन्न करके धारण किया हुआ है ।

प्रश्न - कभी कभी भूकम्प आते हैं, ज्वालामुखी फटते हैं, तूफान आते हैं । क्या ये सब ईश्वर ही उत्पन्न करता है । क्योंकि आपने कहा था कि - पृथ्वी, सूर्य आदि पदार्थ ईश्वर के नियन्त्रण में चलते हैं ।

उत्तर - यह तो ठीक है कि - ये पृथ्वी, सूर्य आदि पदार्थ ईश्वर ने बनाये और उसी की व्यवस्था में चलते हैं । परन्तु भूकम्प, तूफान, ज्वालामुखी आदि इन प्राकृतिक प्रकोपों में प्रायः जीव का हाथ होता है । ये साक्षात् ईश्वरकृत नहीं होते । कैसे ? देखिये, जीव बड़ी तेज़ी से=(अन्धाधुन्ध) पृथ्वी में से पैट्रोल, डीज़ल आदि पदार्थ निकालता जा रहा है । उससे पृथ्वी के अन्दर दबाव कहीं

कम और कहीं अधिक हो जाता है । उससे भूकम्प की उत्पत्ति होती है । कुछ कम-अधिक इन्हीं कारणों से ज्वालामुखी भी फटते हैं । कहीं कहीं कारख़ानों की गर्मी और प्रदूषण के कारण, कहीं परमाणु-परीक्षणों के कारण वायुमण्डल का दबाव असंतुलित हो जाता है । इससे तूफ़ान आते हैं, क्योंकि वायुमण्डल में दबाव कम-अधिक हो जाने से वायु की गति बढ़ जाती है । उससे तूफ़ान और वर्षा आदि उत्पन्न हो जाते हैं । कभी कभी इन्हीं कारणों से एक स्थान के बादल दूसरी जगह जाकर बरसते हैं । परिणाम स्वरूप एक स्थान पर वर्षा ही नहीं होती या बहुत कम होती है और दूसरी जगह बहुत वर्षा हो जाती है । इससे अकाल और बाढ़ की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । अतः ये पृथ्वी आदि जड़ पदार्थ मूल रूप से ईश्वर के नियन्त्रण=(व्यवस्था) में चलते हैं । फिर भी जीव अपनी स्वतन्त्रता=(अज्ञानता या स्वार्थ आदि) के कारण, तूफ़ान, अकाल, बाढ़ आदि में कारण बनता है । ऐसी आपत्तियों में ईश्वर का सीधा कोई हाथ नहीं होता ।।

पञ्चावयव-१६

(१) प्रतिज्ञा - ईश्वर सर्वान्तर्यामी है=(आनन्द, उत्साह तथा भय, शंका आदि के रूप में सबको यथायोग्य सम्मति देता है) ।

(२) हेतु - सर्वव्यापक चेतन सबका मित्र होने से ।
(व्याप्ति - (वैधर्म्य से) जो-जो व्यक्ति सर्वव्यापक चेतन सबका मित्र नहीं होता, वह वह सबके मन की बात को जानकर सबको यथायोग्य सम्मति नहीं दे पाता ।)

(३) उदाहरण - जैसे=मनुष्य ।

(४) उपनय - ईश्वर, मनुष्य के समान=(सर्वव्यापक चेतन और सबका मित्र न हो, ऐसा) नहीं है ।

(५) निगमन - इसलिये सर्वव्यापक चेतन सबका मित्र होने से, ईश्वर सर्वान्तर्यामी है=(आनन्द, उत्साह तथा भय, शंका आदि के रूप में सबको यथायोग्य सम्मति देता है) ।।

विवेचन-१७

ईश्वर अजर है । अर्थात् वह कभी बूढ़ा नहीं होता । 'जरा' का अर्थ है 'बुढ़ापा' । जिसे कभी बुढ़ापा नहीं आता, वह 'अजर' कहलाता है । ईश्वर को

बुढ़ापा कभी भी नहीं आता, अतः ईश्वर 'अजर' कहलाता है ।

यह 'बुढ़ापा' है क्या ? 'बुढ़ापा' का अर्थ है 'वृद्धावस्था'=बड़ी अवस्था=शरीर में शक्ति कम हो जाना । शरीर का जन्म होता है । शरीर में ही बाल्य, यौवन, प्रौढ़ तथा वृद्ध आदि अवस्थाएँ उत्पन्न (या प्रकट) होती हैं । वास्तव में ये अवस्थाएँ तो शरीर की हैं । परन्तु जीव शरीरों को धारण करते हैं, इसलिये शरीर के साथ सम्बन्ध होने के कारण 'जीवों की वृद्धावस्था' आदि गौण रूप से कह दिया जाता है-'कि वह व्यक्ति बूढ़ा हो गया है ।' वास्तव में जीवात्मा बूढ़ा नहीं होता, वह भी अजर है । क्योंकि जीव का भी जन्म नहीं होता । जब जीव का जन्म न होने के कारण जीव बूढ़ा नहीं होता । तो ईश्वर का भी जन्म नहीं होता । फिर ईश्वर बूढ़ा कैसे हो सकता है ? जीव तो शरीर को धारण करता है, इसलिये शरीर धारण करने के सम्बन्ध से जीव को तो फिर भी गौण रूप से बूढ़ा कह दिया जाता है । परन्तु ईश्वर तो शरीर को कभी भी धारण ही नहीं करता । तो उसे तो किसी भी प्रकार से बूढ़ा नहीं कहा जा सकता । ईश्वर तो सब प्रकार से 'अजर' ही है ।

वेद में भी कहा है -

"अकामो धीरो.......आत्मानं धीरमजरं युवानम्" (अथर्ववेद १०/८/४४)

अर्थात् ईश्वर अजर है और सदा युवा ही रहता है ।

प्रश्न - अभी तो आपने कहा था, कि - बाल्य, यौवन आदि अवस्थाएँ शरीर की हैं । और ईश्वर शरीर को कभी भी धारण करता नहीं है । तो वेद के इस मन्त्र में उसे युवा क्यों कहा है ? जब कि युवावस्था भी शरीर में ही हो सकती है ।

उत्तर - इस वेदमन्त्र में ईश्वर को जो 'युवा' कहा है, वह भी गौण कथन=(आलंकारिक भाषा में) है । इसका तात्पर्य यह है, कि- जैसे मनुष्य युवावस्था में सब कार्य सरलता से कर लेता है, क्योंकि युवावस्था में कार्यों को करने के लिये पर्याप्त शक्ति होती है । इसी प्रकार से ईश्वर की शक्ति, ज्ञान आदि भी अपने कार्यों को करने के लिये ईश्वर में पर्याप्त मात्रा में है । वह भी अपने सारे कार्य अपनी शक्ति से बड़ी सरलता से सम्पन्न कर लेता है । अब ईश्वर की यह स्थिति, मनुष्य की युवावस्था के साथ मेल खाती=(मिलती-जुलती) है । इसलिये ईश्वर को गौण रूप से 'युवा' कह दिया गया है । और ईश्वर की यह स्थिति सदा ही रहती है, इसलिये उसे 'सदा युवा'

कह दिया जाता है । ईश्वर सदैव सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वाधीन और स्वतन्त्र बना ही रहता है । अतः वह अजर है ।।

पञ्चावयव-१७

(१) **प्रतिज्ञा** – ईश्वर अजर है = (उसे वृद्धावस्था प्राप्त नहीं होती) ।

(२) **हेतु** – ईश्वर का शरीर न होने से ।

(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जिस जिस का शरीर होता है, उस-उस को वृद्धावस्था प्राप्त हो सकती है ।)

(३) **उदाहरण** – जैसे=मनुष्य आदि को ।

(४) **उपनय** – ईश्वर, मनुष्य आदि के समान शरीर वाला नहीं है ।

(५) **निगमन** – इसलिये ईश्वर का शरीर न होने से, ईश्वर अजर है= (उसे वृद्धावस्था प्राप्त नहीं होती) ।।

विवेचन-१८

ईश्वर अमर है । अर्थात् ईश्वर कभी भी मरता नहीं है । मरना=(मरण या मृत्यु) तीन प्रकार की मानी जा सकती है ।

(१) 'भाव से अभाव रूप हो जाना ।' यह एक प्रकार की मृत्यु कल्पित की जा सकती है । परन्तु यह केवल कल्पना मात्र ही है । क्योंकि यह बात सृष्टि-नियम=(प्रत्यक्ष-आदि प्रमाणों) के विरुद्ध है । किसी भी सत्तात्मक वस्तु का सर्वथा अभाव=सर्वथा लोप = (Totally Absence) नहीं हो सकता । भौतिक-विज्ञान वाले लोग भी इस बात को इन शब्दों में स्वीकार करते हैं –

Matter can neither be created nor destroyed.

अतः ऐसी मृत्यु तो ईश्वर, जीव, प्रकृति इन तीनों में से किसी की भी नहीं हो सकती ।

(२) मृत्यु का दूसरा प्रकार यह हो सकता है – 'कार्य-रूप से कारण-रूप हो जाना ।" जैसे=घड़े का टूट-फूटकर मिट्टी रूप हो जाना । ऐसी मृत्यु भी केवल कार्य-द्रव्यों की हो सकती है । ईश्वर और जीव दोनों ही कार्य-द्रव्य नहीं हैं । अतः घड़े के समान नष्ट नहीं हो सकते ।

(३) तीसरे प्रकार की मृत्यु है – 'शरीर से वियोग हो जाना ।' इस प्रकार की मृत्यु जीवात्मा की होती है, क्योंकि जीव का ही शरीर के साथ संयोग=(जन्म)

होता है । और उसी का शरीर से वियोग=(मृत्यु) होना संभव है । ईश्वर शरीर धारण करता ही नहीं, तो उसका वियोग होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता ।

इस प्रकार से ईश्वर उक्त तीनों प्रकार की मृत्यु से रहित, अविकारी, = (अपरिणामी) रूप में सदा विद्यमान रहता है । इसलिये वह अमर है ।।

पञ्चावयव-१८ (क)

(१) **प्रतिज्ञा –** ईश्वर अमर है = (टूट-फूट कर कारण रूप नहीं बनता) ।

(२) **हेतु –** अवयवों के संयोग से उत्पन्न न होने से ।

(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जो-जो वस्तु अवयवों के संयोग से उत्पन्न होती है, वह वह अमर नहीं होती=(टूट-फूट जाती है) ।

(३) **उदाहरण –** जैसे = मोटर गाड़ी आदि ।

(४) **उपनय –** ईश्वर, मोटर गाड़ी के समान अवयवों के संयोग से उत्पन्न नहीं हुआ है ।

(५) **निगमन –** इसलिये अवयवों के संयोग से उत्पन्न न होने से, ईश्वर अमर है=(टूट-फूटकर कारण रूप नहीं बनता) ।।

पञ्चावयव-१८ (ख)

(१) **प्रतिज्ञा –** ईश्वर अमर है = (वह कभी मरता नहीं है) ।

(२) **हेतु –** क्योंकि ईश्वर कभी भी शरीर धारण करना रूपी जन्म नहीं लेता, इसलिये ।

(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जो-जो व्यक्ति जन्म लेता है, वह वह अमर नहीं होता ।)

(३) **उदाहरण –** जैसे=जीवात्मा, मनुष्य आदि शरीर धारण करना रूपी जन्म लेता है ।

(४) **उपनय –** ईश्वर, जीवात्मा के समान जन्म नहीं लेता ।

(५) **निगमन –** क्योंकि ईश्वर कभी भी शरीर धारण करना रूपी जन्म नहीं लेता, इसलिये ईश्वर अमर है = (वह कभी मरता नहीं है) ।।

विवेचन-१९

ईश्वर अभय है । अर्थात् ईश्वर कभी भी किसी से भी डरता नहीं है । अभय का अर्थ है 'भय से रहित होना'=(भय न लगना) । ईश्वर क्यों नहीं डरता ? डर=(भय) के मुख्य रूप से दो कारण हैं ।

(१) यदि कोई अपने से अधिक बलवान् हो, तो उससे डर लगता है, कि-वह हमसे हमारी सम्पत्ति छीन लेगा, हमें मारेगा-पीटेगा इत्यादि । ईश्वर से अधिक बलवान् संसार में कोई भी नहीं है, जो ईश्वर की सम्पत्ति छीन ले या उसे मार-पीट सके । इसलिये ईश्वर अभय है ।

(२) जब कोई व्यक्ति न्याय के विरुद्ध कार्य करता है, तो उसे राजा, समाज आदि से दण्ड प्राप्त होने का डर लगता है । ईश्वर कभी भी न्याय के विरुद्ध कोई भी कार्य नहीं करता है । इसलिये उसे कभी भी किसी से भी भय नहीं लगता । पहली बात तो यह है कि-ईश्वर के ऊपर शासन करने वाला=(दण्ड दे सकने वाला) कोई अन्य है ही नहीं, जिससे कि ईश्वर को भय लगे । दूसरी बात-यदि ईश्वर के ऊपर कोई अन्य शासन करने वाला हो भी, तब भी ईश्वर को उससे भय नहीं लगेगा । क्योंकि ईश्वर न्याय के विरुद्ध कभी कोई कार्य करता ही नहीं है । अतः ईश्वर सर्वदा, सर्वथा, सर्वत्र अभय है ।

प्रश्न = क्या हम भी ईश्वर के समान अभय बन सकते हैं ?

उत्तर = हमारा सामर्थ्य ईश्वर जितना तो नहीं है । फिर भी एक सीमा तक हम भी अभय बन सकते हैं । इसके लिये हमें दो कार्य करने होंगे ।

पहला – हम भी न्याय=(धर्म) के विरुद्ध=(ईश्वराज्ञा=वेद) के विरुद्ध कोई कार्य न करें, तो हम भी भयमुक्त हो सकते हैं ।

दूसरा – जितनी भी भौतिक सम्पत्ति हमारे पास है=(शरीर, धन, मकान, वस्त्र आदि) इस सम्पूर्ण सम्पत्ति को हम आध्यात्मिक दृष्टि से ईश्वर की मान लें । अपनी न मानें । जब अपनी सम्पत्ति हमारे पास कुछ है ही नहीं, तो कोई हमसे क्या छीनेगा ! और किस चीज़ के छीन लिये जाने का भय हमें लगेगा ! इस सारी सम्पत्ति को ईश्वर का मानकर, ईश्वर के आदेश के अनुसार अपनी और समाज की उन्नति में यदि हम खर्च कर देंगे, तो हमें किसी प्रकार का भय नहीं लगेगा । हम जो कुछ भी खर्च कर देंगे, तो हमें किसी

प्रकार का भय नहीं लगेगा । हम जो कुछ भी खर्च कर रहे हैं, वह हमारा नहीं है । ईश्वर का है । उसे ईश्वराज्ञा के अनुसार खर्च कर देने पर, ईश्वर हमें उसका बहुत ही अच्छा फल देगा । अतः भय की कोई बात ही नहीं है ।

प्रश्न – यदि धन, मकान, वस्त्र आदि सम्पत्ति को हम अपना नहीं मानेंगे, तो कोई भी व्यक्ति आकर हमें कहेगा – "यह सम्पत्ति आपकी तो है नहीं । इसलिये मैं इसे ले जा रहा हूँ ।" इस प्रकार से तो लोग हमसे सारी सम्पत्ति ले जाएँगे । तब हम उसे ईश्वराज्ञा के अनुसार कैसे खर्च कर सकेंगे ?

उत्तर – हमने ऊपर कहा था – आध्यात्मिक दृष्टि से यह सब सम्पत्ति ईश्वर की मान लें । लौकिक=(सांसारिक) दृष्टि से=(कानूनी तौर पर) तो उस सम्पत्ति पर हमारा अधिकार ही रहेगा । हम अपनी इच्छानुसार=(ईश्वर की आज्ञानुसार) उस सम्पत्ति का प्रयोग, अपने और समाज के उत्थान के लिये, करने में स्वतन्त्र होंगे । कानूनी दृष्टि से कोई हमसे सम्पत्ति छीन नहीं सकेगा । ऐसी स्थिति में बलपूर्वक=(अन्याय से) यदि कोई चोर, डाकू हमसे सम्पत्ति छीनने का प्रयत्न करेगा, तो हम उस सम्पत्ति को ईश्वर का ही मानकर उसकी रक्षा भी करेंगे । तब भी यदि वह हमसे सम्पत्ति छीन ले जाने में सफल हो गया, तो भी हमें दुःख नहीं होगा । क्योंकि हमने उस सम्पत्ति को अपना नहीं माना था, ईश्वर का माना था । और जो सम्पत्ति हमसे छीन ली गई, भविष्य में ईश्वर फिर हमारी क्षति-पूर्ति भी कर देगा, तब भय कैसा ?

"हम उस सम्पत्ति को आध्यात्मिक दृष्टि से ईश्वर का ही मानेंगे, उसकी रक्षा भी करेंगे, नष्ट हो जाने पर दुःखी भी नहीं होंगे, भविष्य में हमें और सम्पत्ति भी मिल जाएगी ।" इन बातों को समझने के लिये एक दृष्टान्त प्रस्तुत है –

एक व्यक्ति किसी सेठ के पास नौकरी करता है । सेठने उसे अपनी दुकान पर बैठने और काम करने के लिये एक कुर्सी दे रखी है । वह व्यक्ति उस कुर्सी को सेठ की मानता है । कोई व्यक्ति उस कुर्सी को छीनने या तोड़ने का प्रयत्न करे, तो नौकर उस कुर्सी की रक्षा भी करता है । रक्षा का प्रयत्न करने पर भी यदि कुर्सी टूट जाती है, तो नौकर को कोई दुःख नहीं होता है । कुर्सी सेठ की टूटी है । नौकर ने अपनी कुर्सी तो मानी ही नहीं थी, जबकि उस कुर्सी का प्रयोग नौकर ही करता था । अब सेठ उसे दूसरी कुर्सी भी ला कर देगा । तो नौकर को किस बात का भय !

ठीक इसी प्रकार से हम भी अपनी सारी सम्पत्तियोंको ईश्वर की

मान कर सारे कार्य करें, तो हम भी उस नौकर के समान भयमुक्त=(अभय) हो सकते हैं ।।

पञ्चावयव-१९ (क)

(१) **प्रतिज्ञा –** ईश्वर अभय है = (कभी भयभीत नहीं होता) ।

(२) **हेतु –** ईश्वर से अधिक बलवान्, उस पर अन्याय करने वाला, दूसरा कोई पदार्थ न होने से ।

(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जहाँ-जहाँ कोई दूसरा पदार्थ, किसी से अधिक बलवान् अन्यायकारी होता है, वहाँ-वहाँ उससे भय लगता है ।)

(३) **उदाहरण –** जैसे=किसी कमज़ोर मनुष्य को, किसी बलवान् डाकू से भय लगता है ।

(४) **उपनय –** ईश्वर, कमज़ोर मनुष्य जैसा नहीं है ।

(५) **निगमन –** इसलिये ईश्वर से अधिक बलवान्, उस पर अन्याय करनेवाला, दूसरा कोई पदार्थ न होने से, ईश्वर अभय है = (कभी भयभीत नहीं होता) ।।

पञ्चावयव-१९ (ख)

(१) **प्रतिज्ञा –** ईश्वर अभय है=(कभी भयभीत नहीं होता) ।

(२) **हेतु –** कभी भी अन्याय न करने से ।

(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जो-जो व्यक्ति अन्याय करता है, उसे उसे अन्य लोगों से भय लगता है ।)

(३) **उदाहरण –** जैसे=किसी कर्मचारी को, एक नागरिक पर अन्याय करने पर, अपने अधिकारी से भय लगता है ।

(४) **उपनय –** ईश्वर, कर्मचारी के समान अन्याय नहीं करता ।

(५) **निगमन –** इसलिये कभी भी अन्याय न करने से, ईश्वर अभय है=(कभी भयभीत नहीं होता) ।।

विवेचन-२०

ईश्वर नित्य है । अर्थात् ईश्वर का अस्तित्व सदा रहता है । कभी लुप्त नहीं होता=अभाव को प्राप्त नहीं होता=(कभी नष्ट नहीं होता) । जो वस्तु संसार

में उत्पन्न होती है, वह नष्ट भी अवश्य होती है। 'उत्पन्न होने' का अर्थ है - कारण-द्रव्यों के संयोग से कार्य-द्रव्य बन जाना। जैसे=मकान, कार, वृक्ष, शरीर आदि पदार्थ अपने कारण-द्रव्यों के संयोग से कार्य-द्रव्य के रूप में आ जाते हैं। यही उनकी उत्पत्ति या जन्म है। फिर जो कार्य-द्रव्य का कारण-द्रव्य के रूप में बदल जाना है, उसी को उस वस्तु का नाश कहा जाता है। जैसे=उक्त मकान, कार आदि पदार्थ नष्ट हो जाते हैं।

परन्तु ईश्वर तो किन्हीं कारण-द्रव्यों के संयोग से कार्य-द्रव्य के रूप में उत्पन्न नहीं हुआ है। जब ईश्वर उत्पन्न नहीं हुआ, तो उसका नाश भी नहीं होगा। जब नाश नहीं होगा, तो वह सदा रहेगा। इसी को नित्य कहते हैं, जो वस्तु सदा रहे। ईश्वर सदा रहेगा, इसलिये वह नित्य है। (इसी प्रकार से जीव और प्रकृति भी नित्य हैं, क्योंकि वे किन्हीं कारण-द्रव्यों के संयोग से उत्पन्न होकर कार्य-रूप पदार्थ नहीं बने हैं=वे भी सदा रहेंगे।)

प्रश्न - 'अमर' और 'नित्य' में क्या अन्तर है ?

उत्तर - 'अमर' शब्द से 'मृत्यु का निषेध' बतलाया जाता है, कि-ईश्वर कभी भी मरता नहीं है। और 'नित्य' शब्द से 'अस्तित्व सदा रहना' बतलाया जाता है, कि-ईश्वर सदा रहता है। 'अमर' शब्द निषेधात्मक है = (ईश्वर के निर्गुण स्वरूप को बतलाता है। 'नित्य' शब्द विधेयात्मक है = (जो कि ईश्वर के सगुण स्वरूप को बतलाता है।।

(१) **प्रतिज्ञा -** ईश्वर नित्य है = (वह सदा रहता है)।

(२) **हेतु -** ईश्वर की उत्पत्ति न होने से।

(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जिस जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है, वह वह वस्तु नित्य नहीं होती=(अनित्य होती है)।

(३) **उदाहरण -** जैसे=मकान, मोटरगाड़ी आदि।

(४) **उपनय -** ईश्वर, मकान-मोटरगाड़ी आदि के समान उत्पन्न नहीं होता।

(५) **निगमन -** इसलिये कभी भी ईश्वर की उत्पत्ति न होने से, ईश्वर नित्य है=(वह सदा रहता है)।।

विवेचन-२१

ईश्वर पवित्र है । अर्थात् वह सदा शुद्ध ही रहता है । कभी भी अशुद्ध=अपवित्र नहीं होता । अशुद्धि=(अपवित्रता) या शुद्धि=(पवित्रता) मुख्य रूप से तीन प्रकार की होती है ।

पहले प्रकार की अपवित्रता = भौतिक द्रव्यों में गलना-सड़ना, मल-दुर्गन्ध आदि अपवित्रता देखी जाती है । ऐसी अपवित्रता केवल भौतिक द्रव्यों में ही पाई जाती है । क्योंकि वे पदार्थ अवयवों=(कारण-द्रव्यों) के संयोग से उत्पन्न होते हैं । और उन द्रव्यों में गर्मी आदि कारणों से अवयवों के घटने-बढ़ने से गलना-सड़ना, दुर्गन्ध आदि उत्पन्न हो जाना रूपी अपवित्रता उत्पन्न हो जाती है । जैसे=सेब, केला आदि भौतिक पदार्थ गल-सड़ जाते हैं । परन्तु ईश्वर किन्हीं अवयवों के संयोग से उत्पन्न नहीं हुआ है । अतः उसमें इस प्रकार की दुर्गन्ध आदि अपवित्रता की उत्पत्ति कभी नहीं होती । (जीव भी अवयवों के संयोग से उत्पन्न नहीं हुआ है, अतः इस प्रकार की अपवित्रता जीव में भी नहीं होती ।)

दूसरे प्रकार की अपवित्रता = द्वितीय अपवित्रता ज्ञान की अपवित्रता है । जीव अल्पज्ञ होने के कारण, अपवित्र=(अशुद्ध) हो जाता है । भूल जाना, भ्रान्ति, संशय आदि होना, ये जीवात्मा के ज्ञान की अपवित्रता के स्वरूप हैं । परन्तु ईश्वर सर्वज्ञ है । इसलिये सर्वज्ञ होने से उसका ज्ञान सदा एकरस, अखण्डित, पूर्ण एवं भ्रान्ति-संशय आदि से रहित रहता है । अतः ईश्वर, जीव के समान ज्ञान की अपवित्रता से भी रहित है ।

तीसरे प्रकार की अपवित्रता = तीसरी अपवित्रता कर्म की अपवित्रता है । कर्म की अपवित्रता भी जीव में ही पाई जाती है । कर्म, ज्ञान पर आधारित रहता है । यदि ज्ञान अपवित्र हो जायेगा, तो कर्म भी अपवित्र हो जायेगा । यदि ज्ञान पवित्र होगा, तो कर्म भी पवित्र होगा । जैसे-एक व्यक्ति को चोरी करना ठीक लगता है । यह उसका ज्ञान अपवित्र=(अशुद्ध) है । अतः उसका कर्म भी अपवित्र=(अशुद्ध) हो जायेगा । अर्थात् 'चोरी करना' अपवित्र कर्म है, वह चोरी करेगा । इत्यादि शुद्ध ज्ञान से शुद्ध कर्म होगा, इसे भी आप समझ लेंगे ।

अब जब जीव का ज्ञान अपवित्र हो जाता है, तब वह कर्म भी अपवित्र=(झूठ बोलना, चोरी करना आदि) करने लगता है । परन्तु ईश्वर का ज्ञान सदा ही शुद्ध=(पवित्र) रहता है । सर्वज्ञ होने से । तो उसका कर्म भी सदा

पवित्र ही रहता है । ईश्वर कभी भी पाप, अन्याय, चोरी आदि अपवित्र कर्मों को न तो स्वयं करता है, न ही करने का सुझाव देता है और न ही इन अपवित्र कर्म करने वाले जीवों का उत्साह बढ़ाता है । बल्कि ईश्वर तो सदा इन कर्मों को न करने का ही सुझाव=(भय, शंका, लज्जा के रूप में) देता है और उत्साह को भी भंग करता है । इस प्रकार से ईश्वर तीनों प्रकार से पवित्र है ।।

पञ्चावयव-२१ (क)

(१) **प्रतिज्ञा** – ईश्वर पवित्र है=(मल, दुर्गन्धादि से रहित है) ।

(२) **हेतु** – अवयवों के संयोग से उत्पन्न न होने से ।
(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जो-जो वस्तु अवयवों के संयोग से उत्पन्न होती है, उस-उस वस्तु में मल-दुर्गन्ध आदि हो सकते हैं ।)

(३) **उदाहरण** – जैसे=सेब, केले आदि में ।

(४) **उपनय** – ईश्वर, सेब केले आदि के समान अवयवों के संयोग से उत्पन्न नहीं हुआ है ।

(५) **निगमन** – इसलिये अवयवों के संयोग से उत्पन्न न होने से, ईश्वर पवित्र है=(मल-दुर्गन्ध आदि से रहित है) ।।

पञ्चावयव-२१ (ख)

(१) **प्रतिज्ञा** – ईश्वर पवित्र है = (उसका ज्ञान सदा शुद्ध है) ।

(२) **हेतु** – सर्वज्ञ होने से ।
(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जो-जो अल्पज्ञ होता है, वह वह सर्वदा शुद्ध ज्ञान वाला नहीं रह पाता ।)

(३) **उदाहरण** – जैसे = जीवात्मा ।

(४) **उपनय** – ईश्वर, जीवात्मा के समान अल्पज्ञ नहीं है ।

(५) **निगमन** – इसलिये सर्वज्ञ होने से, ईश्वर पवित्र है = (उसका ज्ञान सदा शुद्ध है) ।।

पञ्चावयव-२१ (ग)

(१) **प्रतिज्ञा** – ईश्वर पवित्र है=(सदा शुद्ध कर्म करता है) ।

(२) **हेतु** – ईश्वर का ज्ञान सदा शुद्ध होने से ।

(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जिस जिस का ज्ञान सदा शुद्ध नहीं रहता, वह वह सदा शुद्ध कर्म नहीं कर सकता ।)

(३) **उदाहरण** – जैसे=जीवात्मा ।

(४) **उपनय** – ईश्वर, जीवात्मा के समान (कभी शुद्ध और कभी अशुद्ध ज्ञान वाला) नहीं है ।

(५) **निगमन** – इसलिये ईश्वर का ज्ञान सदा शुद्ध होने से, ईश्वर पवित्र है=(सदा शुद्ध कर्म करता है) ।।

विवेचन-२२

ईश्वर सृष्टि कर्ता है । अर्थात् सृष्टि को बनाने वाला है । इस विशाल ब्रह्माण्ड को सृष्टि कहते हैं, जिसमें हम जीवों की दृष्टि से असंख्य, (ईश्वर की दृष्टि से सीमित) पदार्थ हैं । इस सृष्टि में इतने अधिक पदार्थ हैं, जिन्हें कोई एक जीव नहीं बना सकता । सारे जीव मिलकर भी नहीं बना सकते । इन सब पदार्थों को अकेला ईश्वर ही बनाता है ।

उदाहरण के लिये-इस सृष्टि में महत्तत्त्व=(बुद्धि), अहंकार, मन, इन्द्रियाँ, असंख्य प्राणियों के शरीर, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, असंख्य तारे, आकाश-गंगाएँ, असंख्य वनस्पतियाँ-औषधियाँ, शाक-सब्ज़ी, फल-फूल इत्यादि पदार्थों को केवल ईश्वर ही बना सकता है । इन सब पदार्थों को सारे जीव मिलकर भी नहीं बना सकते । क्योंकि जीवों में न तो इन पदार्थों को बनाने का ज्ञान है, और न ही शक्ति=(सामर्थ्य) है । और इसी प्रकार से जड़ प्रकृति के परमाणुओं में भी इन सब पदार्थों को बनाने का ज्ञान एवं शक्ति नहीं है । अतः प्रकृति के परमाणु भी सृष्टि को नहीं बना सकते । ईश्वर में सृष्टि के सब पदार्थों को बनाने का ज्ञान भी है और शक्ति भी है । इसलिये वह अकेला ही सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होने से सृष्टि के सब पदार्थों को बना देता है । वही सृष्टि कर्ता है ।

मनुष्यों को भी कुर्सी, मेज, मकान, मोटर आदि बनाने का ज्ञान और सामर्थ्य है । परन्तु मनुष्यों को ये सब वस्तुएँ बनाने का ज्ञान वेद के माध्यम से, सृष्टि के आरम्भ में, ईश्वर ने ही दिया है । और मनुष्य लोग जिस शरीर से कुर्सी, मेज़ आदि वस्तुओं को बनाते हैं, वह शरीर और बल=(सामर्थ्य आदि, नेत्रादि इन्द्रियाँ, हाथ-पाँव आदि साधन) भी ईश्वर ने ही दिये हैं । बिना इन

शरीर-इन्द्रियों अदि साधनों तथा कुल्हाड़ी-हथौड़ी आदि उपसाधनों के, कोई भी जीव-इन कुर्सी-मेज़, मकान, मोटर आदि वस्तुओं को नहीं बना सकता। जबकि ईश्वर बिना किसी बाह्य साधन=(कुल्हाड़ी आदि औज़ारों) के ही, केवल अपनी अनन्त शक्ति मात्र से ही सम्पूर्ण सृष्टि की अनन्त वस्तुओं का निर्माण कर देता है। इस प्रकार से जीवों और प्रकृति से भिन्न=(तीसरा पदार्थ) सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्म-देव=(ईश्वर) ही सृष्टिकर्ता है, यह सर्वथा सिद्ध है।

प्रश्न - क्या ईश्वर मकान, कार, रोटी आदि को बना सकता है? और क्या जीव बुद्धि, मन आदि सूक्ष्म पदार्थों को बना सकते हैं?

उत्तर - ईश्वर मकान, कार, रोटी आदि को बना सकता है, परन्तु उसने वस्तुओं को बनाने की अपनी सीमा का निर्धारण कर रखा है। इसलिये वह इन वस्तुओं को बनाता नहीं है। भला जो ईश्वर, प्रकृति के अति सूक्ष्म परमाणुओं को लेकर बुद्धि, मन आदि सूक्ष्म पदार्थ; तथा पृथ्वी आदि स्थूल पञ्चमहाभूतों की रचना कर सकता है। क्या उसके लिये मकान, मोटर आदि को बनाना कोई बहुत कठिन काम है? जिस काम को अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान् जीव कर सकता है, उस काम को=(मकान, मोटर आदि बनाने को) क्या सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर नहीं कर सकता? अवश्य ही कर सकता है। परन्तु ईश्वर, अपने कार्य-क्षेत्र की सीमा निर्धारित कर लेने के कारण, जीवों के कार्यों को करता नहीं है। दोनों का कार्य-क्षेत्र अलग-अलग है। ईश्वर का कार्य क्षेत्र है-बुद्धि, मन आदि पूर्वोक्त तत्त्वों को बनाना। जीवों का कार्यक्षेत्र है-ईश्वर के बनाये पञ्चमहाभूतों को लेकर मकान, मोटर, रेल, विमान, रोटी, खिचड़ी आदि बनाना। जीवों का कार्य है-खेत में बीज बोना, हल चलाना, पानी देना। ईश्वर का कार्य है-फसल को उत्पन्न करना। ईश्वर लोहा, सुवर्ण आदि धातुएँ बना देता है। फिर जीव लोहे से अलमारी, सुवर्ण से आभूषण आदि को बनाता है। इस प्रकार से दोनों का कार्य अलग-अलग है। ईश्वर, जीव के कार्यों को कर सकता है, परन्तु अपनी सीमा के कारण करता नहीं है। जीव तो ईश्वर के कार्यों को कर ही नहीं सकते। इतना ज्ञान और सामर्थ्य नहीं है, इसलिये।

प्रश्न - ईश्वर ने अपने कार्य-क्षेत्र की सीमा क्यों बनाई?

उत्तर - इसलिये कि यदि सारे कार्य ईश्वर ही कर देवे, तो जीव के लिये कर्म

करने को कुछ बचे ही नहीं । तब बिना कर्म किये, जीव को लौकिक सुख और मोक्ष-सुख भी कैसे मिल सके । इसलिये जिन कार्यों को जीव कर ही नहीं सकते=(जैसे-पृथ्वी, सूर्यादि को बनाना) उन कार्यों को ईश्वर ने अपने कार्य-क्षेत्र में रख लिया । और जिन कार्यों को जीव कर सकते हैं=(जैसे-रोटी, मकान, रेल, विमान आदि बनाना), उन कार्यों को जीवों के करने के लिये छोड़ दिया । ताकि बेचारे जीव भी कुछ कर्म कर लेवें और लौकिक एवं मोक्ष-सुख को प्राप्त कर लेवें । बिना कर्म किये जीव को ईश्वर फल देता नहीं है, यह उसका न्याय का नियम है । अतः ईश्वरने अपने कार्य की सीमा बना कर, कुछ कार्य जीवों के लिये छोड़कर, जीवों पर दया ही की है । उस दयालु, महान्, सृष्टिकर्ता परमेश्वर का कोटि-कोटि=(करोड़ों बार) धन्यवाद !!

पञ्चावयव-२२

(१) **प्रतिज्ञा** - ईश्वर सृष्टिकर्ता है ।

(२) **हेतु** - सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होने से ।

(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जो जो व्यक्ति अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान् होता है, वह-वह सृष्टि के पृथ्वी, सूर्य आदि पदार्थों का निर्माण नहीं कर सकता ।)

(३) **उदाहरण** - जैसे = मनुष्य आदि ।

(४) **उपनय** - ईश्वर, मनुष्यादि के समान अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान् नहीं है ।

(५) **निगमन** - इसलिये सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होने से, ईश्वर सृष्टिकर्ता है ।।

यहाँ तक ईश्वर के सम्बन्ध में लिखा गया । अब द्वितीय विषय-जीवात्मा के सम्बन्ध में लिखेंगे ।।

।। ओ३म् ।।

तत्त्वज्ञान का द्वितीय विषय-जीवात्मा (या जीव, या आत्मा)

विवेचन-१

जीवात्मा की सत्ता ईश्वर से भिन्न है । ईश्वर ने संसार को बनाया है । संसार में अनेक प्रकार के भोग्य पदार्थ=(फल, शाक, अन्न, ओषधि, वनस्पतियाँ आदि) ईश्वर ने उत्पन्न किये हैं । प्रश्न होता है कि ईश्वर ने ये सब पदार्थ किसके लिये बनाये ? क्या अपने लिये ? नहीं । ईश्वर स्वयं तो सर्वगुणसम्पन्न, आनन्द से तृप्त है । ईश्वर में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं है । इसलिये संसार के इन पदार्थों का भोग ईश्वर नहीं करता । इन फल, अन्न आदि पदार्थों का भोग, ये फल, अन्न आदि पदार्थ स्वयं भी नहीं करते । अर्थात् फल स्वयं अपने आप को नहीं खाता । नदियाँ अपना पानी स्वयं नहीं पीतीं, इत्यादि । अतः इन उक्त पदार्थों का भोक्ता, ईश्वर से भिन्न एक पदार्थ है, जिसे 'जीवात्मा' कहते हैं । उसी के लिये ये सब भोग्य पदार्थ ईश्वर ने उत्पन्न किये हैं । वही इन पदार्थों का भोक्ता है ।

जीवात्माएँ असंख्य हैं । हम उनकी संख्या नहीं गिन सकते । ईश्वर एक है । वह सर्वज्ञ है । सर्वज्ञ होने से ईश्वर जीवात्माओं की संख्या को जानता है । उनके सब कर्मों का हिसाब रखता है और न्याय के अनुसार सब जीवों उनके कर्मों का ठीक ठीक फल भी देता है । इस प्रकार से जीवात्मा की सत्ता ईश्वर से भिन्न है । अर्थात् ईश्वर एक है, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और आनन्द से सदा तृप्त है । परन्तु जीवात्माएँ अनेक हैं, अल्पज्ञ, एकदेशी और कभी सुखी-कभी दुःखी होती रहती हैं ।।

पञ्चावयव-१

(१) **प्रतिज्ञा** – जीवात्मा की सत्ता ईश्वर से भिन्न है ।

(२) **हेतु** – जीवात्मा संसार का भोक्ता होने से ।

(व्याप्ति-(साधर्म्य से) जिस जिस चेतन पदार्थ में कुछ कमी होती है, वह वह अपनी उस कमी को पूरा करने के लिये अन्य पदार्थों को भोगता है ।)

(३) **उदाहरण** – जैसे=मनुष्य भूख मिटाने के लिये भोजन को खाता है ।

(४) **उपनय** – मनुष्य के समान प्रत्येक जीवात्मा में कुछ न कुछ कमी है । (ईश्वर में कुछ भी कमी नहीं है, वह कुछ भी नहीं भोगता ।)

(५) **निगमन** – इसलिये जीवात्मा संसार का भोक्ता होने से, जीवात्मा की सत्ता ईश्वर से भिन्न है ।।

विवेचन-२

जीवात्मा चेतन है । प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्दर चेतना का अनुभव करता है । चेतना का मुख्य अर्थ है अनुभूति या ज्ञान होना । हर व्यक्ति अनुभव करता है कि-"मैं हूँ, मैं खाना चाहता हूँ, मैं सोना चाहता हूँ, मैं बोलना चाहता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, इत्यादि ।" ये जो अनेक प्रकार के अनुभव व्यक्ति को होते हैं, इन्हीं अनुभवों का नाम ही 'चेतना' है । यह चेतना या अनुभव जिसको होते हैं, उसे 'चेतन पदार्थ' कहते हैं । उक्त प्रकार के अनुभव जीवात्माओं को होते हैं । अतः प्रत्येक जीवात्मा चेतन है ।

मकान, बिस्तर, कार, स्कूटर आदि प्राकृतिक पदार्थों को इस प्रकार के अनुभव नहीं होते । इसलिये इन प्राकृतिक पदार्थों को 'जड़-पदार्थ' के नाम से कहा जाता है । जड़ पदार्थ=जिसमें चेतना या अनुभव का अभाव हो ।।

पञ्चावयव-२

(१) **प्रतिज्ञा** – जीवात्मा चेतन है ।

(२) **हेतु** – इच्छा आदि गुणों वाला होने से ।
(व्याप्ति – (वैधर्म्य से) जिस जिस वस्तु में इच्छादि गुण नहीं होते, वह वह वस्तु चेतन नहीं होती ।)

(३) **उदाहरण** – जैसे = मकान आदि ।

(४) **उपनय** – जीवात्मा, मकान आदि के समान इच्छादि गुणों से रहित नहीं है ।

(५) **निगमन** – इसलिये इच्छा आदि गुणों वाला होने से, जीवात्मा चेतन है ।।

विवेचन-३

जीवात्मा शरीर से भिन्न है । शरीर जड़ है; जीवात्मा चेतन है । 'जड़' का अर्थ है-'जिस पदार्थ में इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-ज्ञान आदि गुण न हों ।' 'चेतन'

का अर्थ है- 'जिस पदार्थ में इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-ज्ञान आदि गुण हों।' शरीर में अपनी इच्छा नहीं है। इसी प्रकार से अपना द्वेष-प्रयत्न-ज्ञान आदि गुण भी शरीर में नहीं हैं। ये सब जीवात्मा के गुण हैं। जब तक आत्मा=(जीवात्मा) शरीर में रहता है, तभी तक शरीर में इच्छा-प्रयत्न आदि देखे जाते हैं। जब जीवात्मा शरीर को छोड़ देता है, तब=(मृत्यु होने पर) शरीर में किसी प्रकार की इच्छा-द्वेष आदि नहीं देखे जाते।

इससे पता चलता है कि- जीवित अवस्था में जो इच्छा आदि गुण उपलब्ध हो रहे थे, वे शरीर के नहीं, बल्कि आत्मा के थे। एक सार्वभौम सिद्धान्त है कि-'जिसके रहने पर जो कार्य होता है, और उसके न रहने पर वह कार्य नहीं होता; तो वह कार्य उसी तत्त्व का=(पदार्थ का) माना जाता है।' जैसे-बिजली के होने पर पंखा चलता है, न रहने पर नहीं चलता; इसका अर्थ यही माना जाता है कि पंखे को चलाना बिजली का कार्य है।

इसी प्रकार से आत्मा के, शरीर में रहने पर इच्छा-प्रयत्न आदि गुण उपलब्ध होते हैं; आत्मा के, शरीर में न रहने पर इच्छा-प्रयत्न आदि गुण शरीर में उपलब्ध नहीं होते। इससे सिद्ध हुआ कि-इच्छा-प्रयत्न आदि गुण आत्मा के हैं, शरीर के नहीं। अर्थात् आत्मा चेतन है और शरीर जड़ है। अतः स्पष्ट है कि - शरीर और आत्मा, दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं॥

पञ्चावयव-३

(१) **प्रतिज्ञा** - जीवात्मा शरीर से भिन्न है।

(२) **हेतु** - इच्छा आदि गुणों वाला होने से।
(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जिस जिस पदार्थ में इच्छा आदि गुण उपलब्ध नहीं होते, वह वह पदार्थ आत्मा से भिन्न होता है।)

(३) **उदाहरण** - जैसे = मोटरकार, शव आदि।

(४) **उपनय** - जीवात्मा, मोटरकार तथा शव=(मृत शरीर) आदि के समान इच्छा आदि गुणों से रहित नहीं है।

(५) **निगमन** - इसलिये इच्छा आदि गुणों वाला होने से, जीवात्मा शरीर से भिन्न है॥

विवेचन-४

जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है। संसार में अनेक प्रकार के कर्म देखने

में आते हैं । जैसे=खेती करना, व्यापार करना, कपड़ा बुनना, यज्ञ करना, दान देना, चोरी करना, डकैती-हत्या करना आदि । प्रश्न होता है कि-इन कर्मों को करने वाला कौन है ? क्या ईश्वर स्वयं ये सब अच्छे-बुरे कर्म करता है ? नहीं, ईश्वर शुद्ध, पवित्र और सर्वगुणसम्पन्न होने से इस प्रकार के कर्म नहीं करता । तो क्या प्रकृति इन कर्मों को करती है ? नहीं, वह भी जड़ होने से इन कर्मों को नहीं कर सकती । इसलिये जीवात्मा ही शेष रहा । वही इन अच्छे-बुरे कर्मों को करनेवाला सिद्ध हुआ ।

प्रश्न = क्या जीवात्मा अपनी इच्छा से इन कर्मों को करता है अथवा ईश्वर जीवों से इन कर्मों को करवाता है ?

उत्तर = जीवात्मा अपनी इच्छा से इन कर्मों को करता है । जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है । यदि जीवात्मा, ईश्वर की इच्छा से इन कर्मों को करता होता, तो वह कर्म करने में परतन्त्र हो जाता । तब इन कर्मों का फल भी जीवात्मा को नहीं मिलना चाहिये । क्योंकि फल उसी को दिया जाता है, जो अपनी इच्छा या स्वतन्त्रता से कर्म करता है । दूसरे के आधीन कर्म करने वाले को फल नहीं मिलता ।

जैसे=एक व्यक्ति ने बन्दूक से किसी दूसरे व्यक्ति को मार डाला । तो वहाँ फल मारने वाले व्यक्ति को मिलता है, बन्दूक को नहीं । क्योंकि वह कर्म उस व्यक्ति ने स्वेच्छा या स्वतन्त्रता से किया है । बन्दूकने यह कर्म स्वेच्छा या स्वतन्त्रता से नहीं किया, बल्कि परतन्त्रता से किया है । इसी प्रकार से यदि जीवात्मा भी, ईश्वर की इच्छा से कर्म करे, तो उन कर्मों का फल भी ईश्वर को मिलना चाहिये; जीवात्मा को नहीं । परन्तु हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि उन अच्छे-बुरे कर्मों का फल तो जीवात्मा को ही भोगना पड़ता है । ईश्वर तो कभी उन बुरे कर्मों का फल=(दण्ड=दु:ख) भोगता नहीं है । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि-जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है ।।

पञ्चावयव-४

(१) प्रतिज्ञा – जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है ।

(२) हेतु – फल का भोक्ता होने से ।

(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जो-जो पदार्थ फल का भोक्ता नहीं होता, वह-वह कर्म करने में स्वतन्त्र भी नहीं होता ।)

(३) उदाहरण – जैसे = बन्दूक आदि ।

(४) **उपनय** – जीवात्मा, बन्दूक आदि के समान फल–भोग से रहित नहीं है ।

(५) **निगमन** – इसलिये फल का भोक्ता होने से, जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है ।।

विवेचन-५

जीवात्मा कर्मफल भोगने में परतन्त्र है । प्रत्येक आत्मा चाहता है कि–'मैं सुख को प्राप्त करूँ और दुःख को न भोगूँ ।' परन्तु अनेक कर्मों को करते हुए, सुख को चाहते हुए भी सुख नहीं मिल पाता है । दुःख को न चाहते हुए भी दुःख भोगना पड़ता है । 'परतन्त्रता' उसी को कहते हैं कि – न चाहते हुए भी भोगना पड़े । आत्मा दुःख को नहीं चाहता, फिर भी उसे भोगना पड़ता है । सुख को जितनी मात्रा में चाहता है, उतनी मात्रा में उसे मिल नहीं पाता । इससे पता चलता है कि– कर्मों का फल=(सुख–दुःख आदि) जीव के आधीन नहीं है, बल्कि कर्मों का फल उसे किसी दूसरे की व्यवस्था से मिलता है ।

जैसे=कोई व्यक्ति चोरी करता है, परन्तु जेल जाकर दुःख भोगना नहीं चाहता । फिर भी राज्य की व्यवस्था से उसे जेल जाकर दुःख भोगना पड़ता है । चोरी करके वह सुख से रहना चाहता है, परन्तु उसे सुख नहीं मिल पाता । इससे पता चलता है कि–कर्मफल व्यवस्था आत्मा के आधीन नहीं है । बल्कि फल भोगने में वह परतन्त्र=(पराधीन) है ।।

पञ्चावयव-५

(१) **प्रतिज्ञा** – जीवात्मा कर्मफल भोगने में परतन्त्र है ।

(२) **हेतु** – जीवात्मा की इच्छानुसार कर्मों का फल प्राप्त न होने से ।

(व्याप्ति–(साधर्म्य से) जहाँ–जहाँ अपनी इच्छानुसार सुख–दुःख आदि फल प्राप्त नहीं होता, वहाँ वहाँ परतन्त्रता मानी जाती है ।)

(३) **उदाहरण** – जैसे=जेल में अपराधी परतन्त्र होता है ।

(४) **उपनय** – प्रत्येक जीवात्मा भी, जेल के अपराधियों के समान सुख–दुःख आदि फल भोगने में स्वतन्त्र नहीं है ।

(५) **निगमन** – इसलिये जीवात्मा की इच्छानुसार कर्मों का फल प्राप्त न होने से, जीवात्मा कर्मफल भोगने में परतन्त्र है ।।

विवेचन-६

जीवन में प्राप्त होने वाले सभी सुख-दुःख हमारे=(आत्मा के) कर्मों के फल नहीं हैं। 'कर्म का फल' उसे कहते हैं कि- 'जो सुख-दुःख न्यायपूर्वक मिले।' और 'जो सुख-दुःख अन्याय से मिलता है, वह कर्मों का फल नहीं है।' उसे 'कर्म का परिणाम' आदि कह सकते हैं। न्याय के मुख्य-मुख्य नियम=(सिद्धान्त) इसी पुस्तक के पृष्ठ २५-२६ पर देखें।

जहाँ-जहाँ न्याय के इन नियमों के अनुसार हमें सुख-दुख मिलता है, वहाँ-वहाँ हमारे 'कर्मों का फल' मानना चाहिये। और जहाँ-जहाँ न्याय के इन नियमों के विरुद्ध स्थिति दीखती हो, वहाँ-वहाँ कर्मों का फल न मानकर 'अन्याय' (या किसी अन्य के कर्म का परिणाम आदि) मानना चाहिये।

उदाहरण=जैसे किसी व्यक्ति ने एक सेठ के घर चोरी की। न्यायाधीश ने उसे कारावास=(जेल) का दण्ड दिया। यह चोर के कर्म का फल है। क्योंकि यहाँ न्याय के उन नियमों=(नियम संख्या-२,५,९ आदि) के अनुसार फल दिया गया है। परन्तु चोर ने जिस सेठ के घर चोरी की, उससे उस सेठ को जो दुःख हुआ, वह सेठ के किसी पूर्व जन्म के 'कर्म का फल नहीं' है। यह चोर द्वारा सेठ पर किया गया 'अन्याय' है। यदि इसे सेठ के किसी पूर्व जन्म के कर्म का फल माना जाये, तो न्याय के उक्त नियमों में से नियम संख्या-८ और ९ से विरोध होगा। क्योंकि न तो चोर, सेठ के उस पूर्व कर्म को ही जानता है, जिसका वह फल इस चोरी के रूप में सेठ को दे रहा है। और न ही उसे सेठ के उस पूर्व कर्म का फल देने का अधिकार है। यदि यह कहा जाये कि- 'चोर तो नहीं जानता कि-वह सेठ के किस कर्म का फल दे रहा है; परन्तु ईश्वर तो सेठ के उस पूर्व कर्म को जानता है, ईश्वर ने चोर के माध्यम से सेठ के पूर्व कर्म का फल दिलाया है।' ऐसा कहने पर - चोर को दण्ड नहीं दिया जा सकता। क्योंकि जब ईश्वर ने चोर के माध्यम से कर्म का फल=(सेठ को दण्ड) दिलाया है, तो चोर चोरी करने में स्वतन्त्र नहीं है। वह तो परतन्त्र=(ईश्वर के आधीन=ईश्वर के आदेश का पालन कर रहा) है। यदि उस ईश्वर के आदेश का पालन करने वाले=(परतन्त्र) चोर को, चोरी करने पर न्यायाधीश की ओर से दण्ड दिया जाता है, तो उक्त न्याय के नियमों में से नियम-१० से विरोध होता है। अर्थात् न्याय के नियमानुसार स्वतन्त्र कर्ता को ही कर्म का फल (दण्ड आदि) दिया जा सकता है, परतन्त्र को नहीं। जैसे-न्यायाधीश के आदेश पर

जल्लाद किसी अपराधी को फाँसी पर चढ़ा देता है, तो जल्लाद को इसका कोई दण्ड नहीं दिया जाता। बल्कि जल्लाद को न्यायाधीश के आदेश का पालन करने पर वेतन=(पुरस्कार के रूप में) दिया जाता है।

इसी प्रकार से यदि उस चोरी को सेठ के पूर्व कर्म का फल माना ज़ाये, और यह फल ईश्वर के आदेश पर चोर ने उस सेठ को दिया, ऐसा माना जाये; तो उस चोर को भी ईश्वर के आदेश का पालन करने के कारण दण्ड नहीं दे सकते। बल्कि चोर को भी, जल्लाद के समान वेतन=(पुरस्कार आदि) देना चाहिये। और इस सिद्धान्त पर संसार एक दिन भी नहीं चल सकता कि-चोर को दण्ड न देकर पुरस्कार दिया जाये। यदि व्यवहार में यही बात स्वीकार की जाती है कि - चोर को चोरी का दण्ड दिया जाना उचित है और यही न्याय है। तो उक्त न्याय के नियम १० के अनुसार यह सिद्ध हुआ कि-'चोर स्वतन्त्र कर्ता है, इसीलिये उसे चोरी का दण्ड दिया जा रहा है। ईश्वर ने चोर के माध्यम से सेठ को उसके किसी पूर्व कर्म का फल नहीं दिलाया है।' उक्त न्याय के नियमों के अनुसार ये दो ही स्थितियाँ हो सकती हैं कि - या तो चोर उस सेठ के किसी पूर्व कर्म का फल देवे; या फिर ईश्वर, चोर के माध्यम से सेठ को उसके पूर्व कर्म का फल दिलाये। उक्त विवेचन में ये दोनों ही स्थितियाँ 'कर्म-फल के रूप में' सिद्ध नहीं हो पाईं। न्याय-नियमों के अनुसार तीसरी कोई स्थिति बनती नहीं, जिसमें चोर द्वारा की गई चोरी को, सेठ के पूर्व कर्म का फल सिद्ध किया जा सके। अतः यह सिद्ध हुआ कि - चोर आदि से प्राप्त होने वाला दुःख हमारे कर्मों का फल नहीं है, बल्कि वह चोर आदि के द्वारा किया गया 'अन्याय' है, और चोर के कर्म का परिणाम है।। (कर्म का परिणाम, प्रभाव और फल क्या हैं, इनका स्पष्टीकरण पञ्चावयव - (६) के बाद देखें।)

पञ्चावयव-६

(१) प्रतिज्ञा - जीवन में प्राप्त होने वाले सभी सुख-दुःख हमारे=(आत्मा के) कर्मों के फल नहीं हैं।

(२) हेतु - संसार में अन्याय भी होने से।

(व्याप्ति - (साधर्म्य से) जहाँ-जहाँ अन्याय होता है, वहाँ-वहाँ कर्मों का फल नहीं माना जाता।)

(३) उदाहरण - जैसे=न्यायाधीश के आदेश पर यदि जल्लाद किसी अपराधी को फाँसी पर चढ़ा दे और तब न्यायाधीश द्वारा जल्लाद को दण्ड दिया

जाये, तो यह अन्याय माना जाता है ।

(४) **उपनय –** उक्त उदाहरण के समान, संसार में अनेक स्थानों पर अन्याय भी होता है = (निर्दोष व्यक्ति को भी दुःख दिया जाता है) ।

(५) **निगमन –** इसलिये संसार में अन्याय भी होने से, जीवन में प्राप्त होने वाले सभी सुख-दुःख हमारे=(आत्मा के) कर्मों के फल नहीं हैं । (बल्कि वे अन्याय से प्राप्त हुए सुख-दुःख हैं ।) ।।

"कर्म के परिणाम, प्रभाव और फल के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण"

कर्म की परिभाषा – (आर्योद्देश्यरत्नमाला के आधार पर) "जीवात्मा-मन, वाणी और शरीर से जो चेष्टा विशेष करता है, उसे कर्म=(क्रिया) कहते हैं ।" जैसे=यज्ञ करना, दान देना, सेवा करना, सत्य बोलना, झूठ बोलना, चोरी करना, द्वेष करना इत्यादि । कर्म के परिणाम, प्रभाव और फल को समझने के लिये हम यहाँ एक उदाहरण लेते हैं कि- 'चोरी करना' एक 'कर्म' है ।

कर्म का परिणाम – (इसका संकेत सांख्यदर्शन १/१ में मिलता है ।) कर्म=(क्रिया) की 'निकटतम प्रतिक्रिया' को 'परिणाम' कहते हैं । जिस वस्तु या व्यक्ति पर कर्म=(क्रिया) की जाती है, उसी वस्तु या व्यक्ति पर उस कर्म का परिणाम होता है । जैसे=कर्म था - चोर ने सेठ के घर चोरी की । इस चोरी रूपी कर्म का परिणाम यह होगा कि- सेठ के घर से जो सामान चुराया गया, वह सेठ के घर से अनुपस्थित और चोर के पास उपस्थित हो जायेगा । और इस चोरी से सेठ को जो दुःख होगा, वह भी, चोर के चोरी रूपी कर्म का परिणाम है । (विशेष-कर्म का परिणाम बाह्य भौतिक द्रव्यों पर या उन द्रव्यों के माध्यम से शारीरिक-मानसिक रूप से निकटतम प्रतिक्रिया के रूप में होता है ।)

कर्म का प्रभाव – (इसका संकेत मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में मिलता है ।) कर्म, कर्म के परिणाम अथवा कर्म के फल को जानकर जो 'मानसिक सुख-दुःख रूपी या भय आदि रूपी या उससे कोई शिक्षा मिलना रूपी प्रतिक्रिया होती है', उसे 'कर्म का प्रभाव' कहते हैं । जैसे=उक्त चोरी रूपी कर्म के उदाहरण में - सेठ के मित्रों और परिवार वालों को जब चोरी की सूचना मिलती है, तो उन्हें दुःख होता है । सेठ के शत्रुओं को सेठ के घर चोरी होने की सूचना मिलती है, तो सेठ के शत्रुओं को सुख होता है । यह चोरी रूपी कर्म का प्रभाव है । सेठ अपने मन में सोचता है कि-मैं भविष्य में और अधिक सावधानी रखूँगा, ताकि फिर चोरी न हो सके । यह भी कर्म का प्रभाव है ।

इसी प्रकार से जब चोर को दण्ड मिलेगा-उसके दोनों हाथ कटेंगे, उसकी सूचना जनता को मिलेगी । तब जनता यह सोचेगी कि - 'हम कभी चोरी नहीं करेंगे ।' जनता को मिलने वाली यह शिक्षा=(सीख) भी कर्म का (फल की सूचना सुनकर) प्रभाव ही है । (विशेष-कर्म का प्रभाव मानसिक सुख-दुःख, भय आदि तथा किसी शिक्षा के रूप में होता है । कर्म का प्रभाव उसी उसी व्यक्ति पर होगा, जिसे-जिसे कर्म के परिणाम और / या फल की सूचना मिलेगी । जिसे सूचना नहीं मिलेगी, उस पर कोई प्रभाव नहीं होगा । जब सूचना मिलेगी, तब प्रभाव होगा । प्रभाव चेतनों पर ही होगा, जड़-पदार्थों पर नहीं ।) (आजकाल भी अपराधी को दण्ड देने पर उसका समाचार रेडियो, टेलिविज़न तथा पत्र-पत्रिकाओं आदि में प्रकाशित किया जाता है । उसका उद्देश्य भी जनता पर प्रभाव डालना ही होता है ।)

कर्म का फल - (इसका संकेत भी चोर के हाथ काट देना इत्यादि मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में मिलता है ।) अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार कर्म को ठीक ठीक जानकर, कर्म करने वाले को 'न्यायपूर्वक=(न कम, न अधिक) सुख-दुःख देना' 'कर्म का फल' कहलाता है । जैसे=उक्त उदाहरण के अनुसार-चोर के कर्म=(बहुत बड़ी चोरी) का दण्ड=उसके दोनों हाथ काट देना-यह कर्म का फल है । (यह दण्ड अरब देशों में आजकल भी दिया जाता है, जबकि मूल रूप से यह मनुस्मृति में से लिया गया है ।) (विशेष-कर्म का फल, कर्म करने वाले को ही मिलेगा, अन्य को नहीं । जबकि कर्म का परिणाम और प्रभाव अन्यों पर भी हो सकता है ।।)

जीवात्मा की संक्षिप्त चर्चा करने के बाद, अब थोड़ी सी बात प्रकृति के विषय में लिखेंगे । यद्यपि प्रकृति के सम्बन्ध में आजकल स्कूल, कॉलेज आदि में भौतिकी, रसायन-शास्त्र=(Physics, Chemistry) आदि विषयों में बहुत कुछ बताया-पढ़ाया जाता है । इसलिये उस भाग की चर्चा न करके, प्रकृति के जिस भाग को लोग प्रायः नहीं जानते हैं, उस भाग की दार्शनिक दृष्टिकोण से संक्षिप्त चर्चा करेंगे ।

।। ओ३म् ।।

तत्त्वज्ञान का तृतीय विषय - प्रकृति

विवेचन

प्रकृति की सत्ता है । संसार के जो जड़-पदार्थ, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से जाने जाते हैं, वे सब प्रकृति से बने पदार्थ हैं । जैसे-सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, जल, अग्नि, मनुष्य आदि प्राणियों के शरीर इत्यादि । संसार में कारण-द्रव्यों से कार्य-द्रव्यों की उत्पत्ति होती है । जैसे-मिट्टी से घड़ा बनता है । ईंट आदि से मकान बनता है । ऐसे ही सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी आदि पदार्थ भी किन्हीं अन्य कारण-द्रव्यों से उत्पन्न हुए हैं उनके कारण-द्रव्य भी किन्हीं अन्य कारण-द्रव्यों से उत्पन्न हुए हैं । इस प्रकार से यह कार्य कारण द्रव्यों की परम्परा जहाँ समाप्त होती है, उस अन्तिम सूक्ष्मतम कारण-द्रव्य को 'प्रकृति' कहते हैं । इस मूल द्रव्य=प्रकृति में तीन प्रकार के सूक्ष्मतम परमाणु हैं । उनके नाम=सत्त्व, रजस् और तमस् हैं । इन तीनों प्रकार के असंख्य परमाणुओं के संघात या समुदाय को ही 'प्रकृति' कहा जाता है । सांख्य दर्शन १/६१ सूत्र के अनुसार इस मूल द्रव्य=प्रकृति से जो जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उनका विवरण इस प्रकार से है-

प्रकृति से प्रथम कार्य-द्रव्य 'महत्तत्त्व' नामक उत्पन्न होता है । इसी को हम 'बुद्धि' के नाम से भी कहते हैं । इसके पश्चात् दूसरा कार्य-द्रव्य 'अहंकार' उत्पन्न होता है । अहंकार के बाद सोलह पदार्थ उत्पन्न होते हैं- ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, १ मन और ५ तन्मात्राएँ । इनके पश्चात् ५ स्थूल भूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) उत्पन्न होते हैं । इन्हीं ५ स्थूल भूतों को 'पञ्चमहाभूत' भी कहते हैं । इन्हीं पञ्चमहाभूतों के ही सम्मिश्रण से संसार के सभी स्थूल पदार्थ=(वृक्ष-वनस्पतियाँ, गौ आदि प्राणियों के शरीर, सुवर्ण आदि धातुएँ, खनिज पदार्थ इत्यादि) बनते हैं । इनमें से मूल द्रव्य=प्रकृति तो अनादि है, उसे किसी ने नहीं बनाया । वह सदा से है और सदा रहेगी । परन्तु महत्तत्त्व से लेकर आगे के सब पदार्थ=(वृक्ष, शरीर, खनिज पदार्थ तक) ईश्वर, उस मूल-द्रव्य=प्रकृति से बनाता है । इन सब उत्पन्न हुए कार्य-द्रव्यों का दार्शनिक भाषा में नाम 'विकृति' है । ये सब पदार्थ उत्पन्न भी होते हैं और नष्ट भी ।

आजकल भी भौतिकी, रसायन-शास्त्र आदि में संसार के पदार्थों के सम्बन्ध में अपनी अपनी परिभाषाओं के आधार पर द्रव्यों का निर्माण होना

बताया जाता है। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि- **इन द्रव्यों का निर्माण हुआ,** ऐसा तो बताया जाता है। लेकिन **यह निर्माण ईश्वर ने किया**-ऐसा नहीं बताया जाता। भौतिक वैज्ञानिकों को यह बात भी अपने विद्यार्थियों / शिष्यों को बतानी चाहिये। कई बार जब हम भौतिक वैज्ञानिकों से ऐसा कहते हैं कि-'संसार के पदार्थों का निर्माण ईश्वर ने किया' ऐसा आप अपने विद्यार्थियों को बताया करें। तो वे कहते हैं-"ईश्वर भौतिक विज्ञान का विषय ही नहीं है। हम तो इतना ही विचार करते हैं कि संसार के पदार्थ कैसे बने ? इन पदार्थों को किसने बनाया ? इस प्रश्न पर हम विचार नहीं करते। यह हमारा विषय नहीं है।" हम आजकल के भौतिक वैज्ञानिकों से निवेदन करना चाहते हैं कि-'वे ईश्वर को भी अपने विचार का विषय बनायें। जैसे गणित शास्त्र, भौतिकी से भिन्न विषय है, उसका वे अध्ययन करते हैं। ऐसे ही ईश्वर भी भौतिकी से भिन्न विषय है, उसका भी अध्ययन करें। अन्यथा इससे संसार की बहुत बड़ी हानि हो जायेगी। लोग नास्तिक हो जायेंगे, चारों तरफ अन्याय बढ़ जायेगा। सर्वत्र अशान्ति का वातावरण बन जाएगा और जीवन जीना भी कठिन हो जायेगा। ऐसा होता भी जा रहा है, अस्तु।'

मूल द्रव्य=प्रकृति सूक्ष्म होने से आँखों से नहीं दीखती, परन्तु उससे उत्पन्न हुए पृथ्वी, जल आदि पदार्थ स्थूल होने के कारण आँखों से दीखते हैं। ये पृथ्वी, जल आदि स्थूल पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध ही हैं। अतः इन्हें सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। मूल कारण द्रव्य='प्रकृति' सूक्ष्म होने से आँखों से प्रत्यक्ष नहीं होती। इसलिये उसकी सिद्धि के लिये अनुमान-प्रमाण=(पञ्चावयव-प्रक्रिया) प्रस्तुत है॥

पञ्चावयव

(१) प्रतिज्ञा – प्रकृति की सत्ता है।

(२) हेतु – कारण द्रव्य के बिना कार्य द्रव्य की उत्पत्ति न होने से।
(व्याप्ति-(साधर्म्य से) जहाँ-जहाँ किसी कार्य-द्रव्य की उत्पत्ति होती है, वहाँ वहाँ उसका कारण द्रव्य अवश्य ही होता है।)

(३) उदाहरण – जैसे=मकान रूपी कार्य-द्रव्य की उत्पत्ति तभी होती है, जब उसका कारण द्रव्य=ईंटें आदि अवश्य होती हैं।

(४) उपनय – ईंटों आदि से मकान की उत्पत्ति के समान ही, प्रकृति से भी जगत् की उत्पत्ति होती है।

(५) **निगमन** – इसलिये कारण द्रव्य=(प्रकृति) के बिना कार्य-द्रव्य=(जगत्) की उत्पत्ति न हो सकने से, प्रकृति की सत्ता है ।।

इस ग्रन्थ का उपसंहार – इस ग्रन्थ में मुख्य रूप से ईश्वर के सम्बन्ध में, थोड़ा सा जीवात्मा के सम्बन्ध में और बहुत ही कम प्रकृति के सम्बन्ध में तत्त्वज्ञान=(यथार्थ ज्ञान=वास्तविक ज्ञान=True Knowledge) प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है । इसका उद्देश्य है कि हम इन तीनों पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानकर पूर्ण और स्थाई सुख=(आनन्द) को प्राप्त करें, तथा सम्पूर्ण दुःखों से छूट सकें ।

यद्यपि हम इस संसार में भोक्ता के रूप में उपस्थित हैं । हमारे सामने दो पदार्थ हैं-ईश्वर और प्रकृति । हम सुख=(आनन्द) को प्राप्त करना चाहते हैं तथा सब दुःखों से छूटना चाहते हैं । इसके अतिरिक्त हमारा और कोई लक्ष्य नहीं है । हमारी जितनी भी चेष्टाएँ=(प्रयत्न) हैं, वे सब इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हैं । अब हमें विचारना यह है कि – हमारा उक्त लक्ष्य ईश्वर के साथ सम्पर्क जोड़ने से पूर्ण (या प्राप्त) हो सकता है अथवा प्रकृति को भोगने से । सुख तो दोनों=(ईश्वर और प्रकृति) में है । परन्तु इन दोनों पदार्थों के सुख में बहुत अन्तर है । मुख्य अन्तर यह है कि – ईश्वर का आनन्द शुद्ध एवं स्थाई है । जबकि प्रकृति का सुख, दुःख-मिश्रित एवं क्षणिक=(अस्थाई) है ।[१] हम पूरी ईमानदारी से आत्म-निरीक्षण करें कि- हमें किस प्रकार का सुख चाहिये । निःसन्देह स्वयं से यही उत्तर मिलेगा कि हमें शुद्ध और स्थाई आनन्द चाहिये । ऐसा सुख केवल ईश्वर के ही पास है । 'प्रकृति का सुख, दुःख-मिश्रित एवं क्षणिक है', इस बात को आज के वैज्ञानिक, राजनेता एवं अन्य-अन्य भौतिक=(सांसारिक) विद्याओं को पढ़ने वाले बुद्धिजीवी लोग भी नहीं समझ पा रहे हैं । इसीलिये दिन-रात भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हैं । परन्तु इतिहास बताता है कि-इन भौतिक=(प्राकृतिक) सुखों से आज तक किसी की भी पूर्ण तृप्ति नहीं हुई । हाँ, इन भौतिक सुखों को ही जीवन का मुख्य लक्ष्य बना लेने के कारण, संसार के लोगों पर अन्याय, अत्याचार, व्यभिचार और शोषण तो असंख्य हुए हैं और हो रहे हैं । आज के इस अशान्त एवं आतंकवादी वातावरण का मुख्य कारण यही है कि संसार के लोगों ने ईश्वर को छोड़कर, भौतिक सुखों को ही मुख्य लक्ष्य बना लिया है । अब इन दुःखों, समस्याओं से छूटने का यही उपाय है कि-**मुख्य लक्ष्य तो ईश्वर को**

(१) दोनों सुखों में अन्तर विस्तार से देखना चाहें, तो पृष्ठ=१८ पर देखें ।

बनाया जाये और प्राकृतिक वस्तुओं का उपयोग केवल जीवन रक्षा के लिये किया जाये । तभी संसार में सुख-शान्ति की स्थापना की जा सकती है और ईश्वर का सुख भी प्राप्त किया जा सकता है ।

ईश्वर को मुख्य लक्ष्य बनाकर, प्रकृति को गौण बनाकर, कैसे हम ईश्वरीय आनन्द की प्राप्ति करें; इसकी प्रक्रिया निम्न प्रकार से समझनी चाहिये-

ईश्वर के प्रति रुचि बढ़ायें । प्रकृति के प्रति रुचि कम करें । इस पुस्तक में बताये ईश्वर के गुणों का बार-बार पठन, मनन आदि करें । वेद आदि सत्य ग्रन्थों का स्वाध्याय=(अध्ययन) गुरुमुख से करें । वैदिक सत्संगों में जाकर, वैदिक प्रवचन सुनें और प्रेमपूर्वक श्रद्धा से वक्ता के साथ शंका-समाधान करें । पञ्चमहायज्ञों का यथाशक्ति अनुष्ठान करें । प्रातः और सायं प्रतिदिन ईश्वर का ध्यान=(योगाभ्यास) करें । व्यवहार मे पूरी निष्ठा से यम-नियमों का पालन करें । ऐसा करने से ईश्वर के प्रति रुचि बढ़ेगी । धीरे धीरे उन्नति होगी ।

दूसरी ओर प्राकृतिक वस्तुओं का सेवन, जीवन-रक्षा और सामाजिक कार्यों को सम्पन्न करने की दृष्टि से करें, सुख-प्राप्ति के लिये नहीं । उदाहरण के लिये-रेल, बस, कार आदि में यात्रा गन्तव्य-स्थान तक पहुँचने के लिये करें, सुख लेने के लिये नहीं । साथ-ही-साथ इन भौतिक वस्तुओं का प्रयोग करते समय इनमें छिपे हुए दुःख को भी मानसिक रूप से देखने=(विचारने) का प्रयत्न करें । जैसे=अच्छा, पौष्टिक, शुद्ध, सात्त्विक भोजन खाने से पूर्व यह सोचें कि-'यह भोजन मैं जीवन-रक्षा के लिये मजबूरी से खा रहा हूँ, इस भोजन का सुख लेने के लिये नहीं । यद्यपि इस भोजन में सुख है, परन्तु दुःख चार हैं । परिणाम-दुःख, ताप-दुःख, संस्कार-दुःख और गुणवृत्ति विरोध दुःख (देखें-योग दर्शन २/१५) ।' ऐसे ही सभी भौतिक पदार्थों का प्रयोग करते समय सोचें । इससे धीरे धीरे भौतिक सुखो में रुचि कम हो जायेगी ।

इस प्रकार से लम्बे समय तक अभ्यास करते रहने से संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जायेगा । परन्तु लम्बे काल तक दोनों प्रकार के = (भौतिक सुखों के संस्कार और ईश्वरीय=आध्यात्मिक सुख के संस्कारों) में निरन्तर संघर्ष चलेगा । कभी भौतिक संस्कार जीत जायें गे, तो कभी आध्यात्मिक । यह संघर्ष सभी को करना ही पड़ेगा । ईश्वरीय आनन्द को प्राप्त करने और सब दुःखों से छूटने=(मोक्ष) के लिये, इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग

नहीं है; यही वेद और सभी ऋषियों का सन्देश है ।

जब-जब भी मन में भौतिक सुखों को भोगने की इच्छा हो, तब तब उसमें चार दुःख सोचने वाली उक्त प्रक्रिया को अपनायें । ईश्वर के गुणों का बार-बार चिन्तन-मनन करें । इससे आध्यात्मिक संस्कारों का बल बढ़ता जायेगा और हम ईश्वर के निकट होते जायेंगे । धीरे-धीरे पूर्ण वैराग्य होने पर ईश्वर का साक्षात्कार=(समाधि में अनुभव) हो जायेगा और ईश्वर का आनन्द भी प्राप्त होगा । ईश्वर से ज्ञान, बल, उत्साह, निर्भयता आदि की प्राप्ति होगी । समाधि का लम्बे काल तक अभ्यास करने के बाद एक स्थिति ऐसी आ जायेगी कि-तब भौतिक सुखों को भोगने के संस्कार=(अविद्या, राग-द्वेष आदि) दग्धबीज के समान=(पूर्णतया नष्ट) हो जायेंगे । और फिर अगला जन्म नहीं होगा । जन्म-मरण से छुटकारा=(मोक्ष) हो जायेगा । मोक्ष में हम ३१ नील १० खरब और ४० अरब वर्ष तक ईश्वर का शुद्ध एवं स्थाई आनन्द लगातार भोगेंगे, दुःख एक भी नहीं होगा । मोक्ष का समय पूरा होने के बाद फिर वहाँ से लौट कर मनुष्य जन्म हमें ईश्वर देगा और फिर हमारी एक नई यात्रा=(मोक्ष प्राप्ति के लिये पुनः प्रयत्न) आरम्भ हो जायेगी ।

आशा है, बुद्धिमान् लोग इस पुस्तक को पढ़कर लाभ उठाएँगे=(ईश्वर की ओर बढ़ने का प्रयत्न करेंगे=ऊपर बताये उपायों को अपनाएँगे) तथा अन्यों तक भी लाभ पहुँचाने का प्रयत्न करेंगे । प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में उन्नति करना चाहता है और अवनति=(पतन) से बचना चाहता है । ऋषियों के कथनानुसार उन्नति और अवनति की परिभाषा निम्नलिखित है-

उन्नति : ईश्वर, मोक्ष, वैराग्य, तत्त्वज्ञान आदि की ओर बढ़ना उन्नति है ।

अवनति : प्रकृति, बन्धन, राग-द्वेष, अविद्या आदि की ओर बढ़ना अवनति=(पतन) है ।

ईश्वर सबकी उन्नति करे और सभी लोग उन्नति के लिये प्रयत्न=(पुरुषार्थ) करें, यही भावना है ।।

।। ओ३म् शम् ।।